वर्ष ४०]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०२२, फरवरी १९६६

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सौन्दर्य-शौर्य-निधि भगवान् श्रीराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
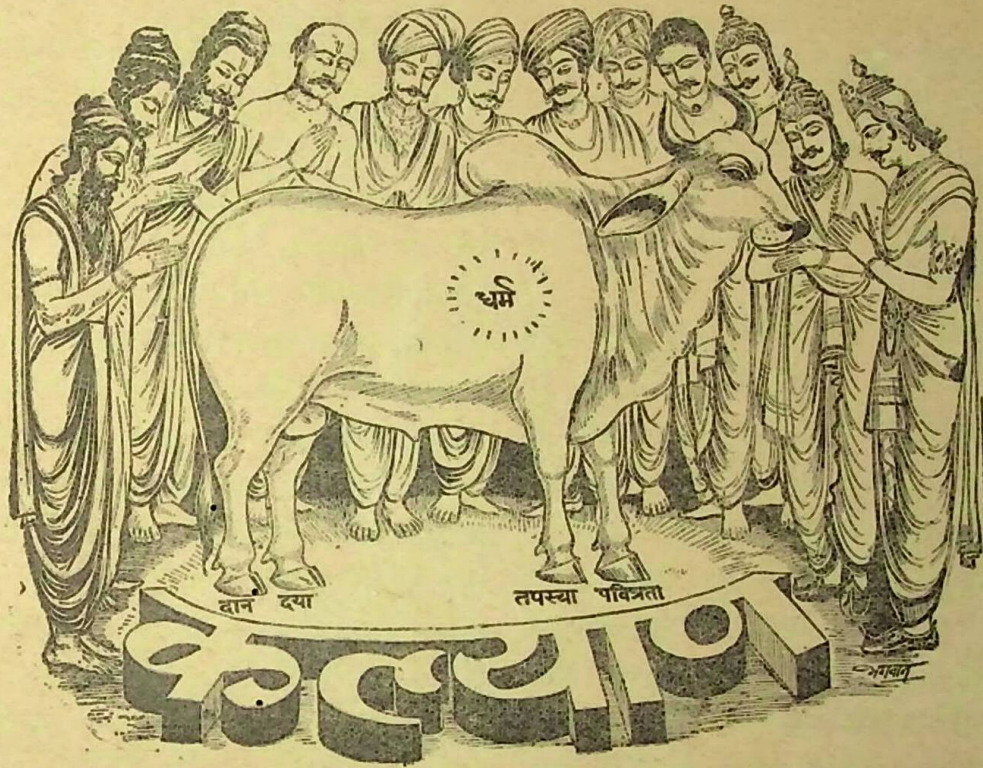
लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषवपुर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिर्विट्शूद्रैरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२२, फरवरी १९६६ | संख्या २ पूर्ण संख्या ४७१

सौन्दर्य-शौर्य-निधि भगवान् श्रीराम

रामचन्द्र मुखकंज मनोहर भक्त-भ्रमर मन-हारक ।
मंगल मूल मधुर मंजुल मृदु दिव्य सहज सुख-कारक ॥
नित्य निरामय निर्मल अबिरल ललित कलित सुभ सोभित ।
पाप-ताप-मद-मोह-हरन, मुनि-मन-सुचि-करन सुलोभित ॥
नील स्याम-तनु, धनु कर सोहत, बरद हस्त भय नासत ।
सुमन-माल-सुरभित, मुक्ता-मनि-हार लसत, द्युति भासत ॥
पीत बसन सौंदर्य-सौर्य-निधि, भाल तिलक अति भ्राजत ।
अखिल भुवनपति, सुषमा-श्री लखि, काम कोटि-सत लाजत ॥

याद रक्खो—काम, लोभ, धनोपार्जनमें ही लगे रहना, तृष्णा, असंतोष, परिग्रह, स्तेय, असत्य भाषण, निन्दा, बहुत बोलना, परचर्चा, क्रोध, हिंसा, निर्दयता, चिन्ता, शोक, अहंकार, अभिमान, मद, प्रमाद, इन्द्रियोंकी दासता, मनकी गुलामी, कुसंगति और भजनका अभाव—ये चौबीस बड़े दोष हैं।

याद रक्खो—१. काम ज्ञानको हरण करके पापमें प्रवृत्त करता है; २. लोभसे बुद्धि मारी जाती है; ३. धनोपार्जनकी नित्य प्रवृत्तिसे मनुष्य असुर बन जाता है और धर्म, शान्ति, निर्भयता, सुख उसके जीवनसे चले जाते हैं; ४. तृष्णा सदा नवीन बनी रहकर जलाती रहती है; ५. असंतोष सदा मनुष्यको अभावका अनुभव कराता हुआ दुखी रखता है; ६. परिग्रहकी वृत्ति सदा नयी-नयी चीजें बटोरनेकी चिन्तासे ग्रस्त रखती है; ७. स्तेय (चोरी) दूसरेका धन—स्वत्व अपहरण करनेका पाप कराता रहता है; ८. असत्य भाषणसे वाणीका तेज नष्ट हो जाता है और लोगोंमें विश्वास उठ जाता है; ९. निन्दासे परदोष-दर्शनकी प्रवृत्ति होती, पराये पापोंका संग्रह होता तथा जिनकी निन्दा होती है, उनसे द्वेष-वैर बढ़ता है; १०. बहुत बोलनेसे वाणी-बलका क्षय होता और व्यर्थ समय नष्ट होता है; ११. परचर्चासे समय नष्ट होनेके साथ ही निन्दा-स्तुतिकी आदत पड़ती तथा राग-द्वेष बढ़ता है; १२. क्रोध मनुष्यको बेहोश करके राक्षस बना देता है; १३. हिंसा महापाप है और हिंसा करनेवालेकी सब हिंसा करते हैं; १४. निर्दयता मनुष्यको खूँखार पशु और पिशाच बना देती है; १५. चिन्ता हृदयमें सदा चिता-सी बनी धधकती तथा धधकाती रहती है; १६. शोकसे मनुष्य [illegible]ग्रस्त होकर कर्तव्यशून्य हो जाता है; १७. अहंकार समस्त बन्धनोंका मूल है—शरीर तथा नामका अहंकार जीवको जन्म-मृत्युके चक्रमें घुमाता है; १८. अभिमान झूठे बड़प्पनकी सृष्टि करके दूसरोंका अपमान करवाता और नये-नये कलह-क्लेशकी सृष्टि करता है; १९. मद मनुष्यको बेहोश कर देता है—यह एक बुरा नशा होता है—जैसे धन-मद, पद-मद, विद्यामद, जाति-मद, बुद्धिमद आदि; २०. प्रमादसे मनुष्य करने-योग्य कार्यका त्याग कर देता है और न करनेयोग्यको करने लगता है; २१. प्रमाद ही मृत्यु है; इन्द्रियोंकी दासता मन-बुद्धिकी पवित्रताको नष्ट करके उसे दुष्कर्मोंमें लगाती तथा बाहरी एवं भीतरी शक्तिका नाश करती है; २२. मनकी गुलामीसे मनुष्य उच्छृङ्खल होकर कुमार्गगामी होता और नित्य अशान्तिका भोग करता है; २३. कुसङ्गतिसे मनुष्यका सब ओरसे पतन हो जाता है, कुसङ्गसे जीवन बिगड़ जाता है और मनुष्य चिरकालतक नरकयन्त्रणा-भोगका साधन बटोरता रहता है और २४. भजनका अभाव तो मानव-जीवनको ही व्यर्थ कर देता है।

याद रक्खो—मानव-जीवन मिला ही है—भगवान्‌का भजन करनेके लिये। अतएव उपर्युक्त दोषोंसे बचते हुए भगवान्‌का भजन करो। सत्सङ्गतिके साथ भजनमें प्रवृत्ति हो जानेपर ये दोष अपने-आप हटने-मिटने लगते हैं। भगवान्‌के भजनमें ही मानवकी मानवता है।

याद रक्खो—भजन उसे कहते हैं—जिसमें जीवनके सारे कार्य भगवान्‌की सेवाके लिये होते हैं। मनसे भगवान्‌का चिन्तन तथा वाणीसे भगवान्‌के नाम-गुणोंका जप-कीर्तन-कथन करते हुए शरीरके द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की ही पूजा-सेवा करनी चाहिये।

'शिव'

जीव और भगवान्

(पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

अद्वैत-मतानुसार 'जीव' विष्णु ही है—'विष्णुर्विकल्पोज्झितः ।' श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।

(११ । १२ । १७)

यहाँ जीवका अर्थ 'परमेश्वर' ही है;* क्योंकि वही सबको जिलाता है । **'पराभिध्यानात्'** आदि ब्रह्मसूत्रके अनुसार भी जीवका अन्तर्यामीके साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है । उसीसे जीवका जीवन चलता है, अतः वह जीवका जीव और प्राणका प्राण कहा जाता है—

स उ प्राणस्य प्राणः । (केनोपनिषत् १ । २)
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।
(कठोपनिषद् १ । २ । १३, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । १३)

भगवान् श्रीहरि प्राणोंके प्राण हैं, वे ही जीवोंके सच्चे जीव हैं—

हरिर्हि साक्षाद् भगवान् शरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ॥

(श्रीमद्भा० ५ । १८ । १३)

भगवान् श्रीकृष्ण आत्माओंके सच्चे आत्मा हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५५)

भगवान् श्रीराम ही जीवोंके जीव हैं—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।

(वाल्मीकिरामायण अयोध्याकाण्ड ४४ । १५-१६)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम ।

(रामचरितमानस, अयोध्या० २९०)

राम प्रान प्रिय जीवन जी के । स्वारथ रहित सखा सबही के ॥

आभासवादके अनुसार भी जैसे सूर्यादिके विना उनका आभास सम्भव नहीं, वैसे ही सच्चिदानन्दकन्द प्रभुसे विश्लिष्ट जीवकी स्थिति सम्भव नहीं हो सकती । जैसे सूर्यादिके आभासोंके मूल हेतु सूर्यादि हैं, वैसे ही जीवके मूलभूत जीवन सच्चिदानन्दकन्द प्रभु ही हैं ।

अवच्छेदवादानुसार महाकाश भगवान्का एवं घटाकाश जीवका स्वरूप है । जैसे महाकाशके विना घटाकाशकी स्थिति सम्भव नहीं, वैसे ही ईश्वर विना जीवका जीवन सम्भव नहीं । आचार्य श्रीरामानुजके मतानुसार नीलोत्पलमें उत्पलसे जैसे नीलिमाका, रक्तोत्पलमें उत्पलसे रक्तिमाका अभेद्य सम्बन्ध है, वैसे ही जीवेश्वर-सम्बन्ध है ।

सम्बन्ध भी सहज एवं कृत्रिम भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । पर यहाँ नीलकमलका नीलिमाके साथ सम्बन्ध अकृत्रिम—सहज है । श्रीनिम्बार्कादिके मतानुसार भी 'सुवर्णकुण्डल'में जैसे सुवर्णभिन्न कुण्डल नहीं है, वैसे ही जीवात्मसम्बन्ध है । इसीलिये भगवद्वियोगका क्लेश ही वास्तविक क्लेश है । भगवत्-मिलन भजन-स्मरणका सुख ही वास्तविक सुख है ।

वाल्मीकिरामायणमें आता है कि जब भगवान् श्रीराम वनमें चले गये तो अवधनिवासियोंका कष्ट सीमा पार कर गया । उन दिनों किसी वन्ध्याको पुत्र-लाभ हो गया था, कुछ प्रोषितभर्तृकाओंके पतिका भी आगमन हो गया और उन्हें प्रियतमसम्मिलनका संयोग उपलब्ध हुआ था, कुछ दरिद्रोंको विपुल धनागम भी हुआ था, किंतु ऐसा अलभ्य-लाभ होनेपर भी उन्हें तनिक सु[illegible] न हुआ । वन्ध्याको पुत्रप्राप्ति अथवा [illegible]

---

* (क)—'एषः—अपरोक्षः, जीवयतीति जीवः—परमेश्वरः ।'
(श्रीधरस्वामिकृत भागवतभावार्थदीपिका ११ । १२ । १७)

(ख)—जीवयतीति जीवः—परमेश्वरः—
(अन्वितार्थप्रकाशिका व्या०)

(ग)—जीवः, जीव प्राणधारणे धातोः प्रकृष्टानन्दलक्षणस्य हरेर्विशेषाधिष्ठानत्वात् तन्नामा ब्रह्मा, प्राणेन विष्णुना, घोषेण वेदात्मिकया प्रकृत्या लक्ष्म्या च सह गुहां—रुद्रादीनां हृदयगुहां प्रविष्टः ।
(श्रीविजयध्वजकृतपदरत्नावली)

प्रियतम पतिके संयोगका आनन्द असाधारण तथा अत्युत्कृष्ट माना गया है। पर वह सब राम-वनवासके कारण—श्रीराम-वियोग-जनित क्लेश इस उत्कृष्ट आनन्दकी अपेक्षा इतना अधिक बढ़ गया था कि उस महान् दुःखसागरमें इस असाधारण श्रेष्ठ सुखका पता भी न चला—लेशमात्र भी अनुभव न हो सका—

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥
गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम्।
व्यगर्हयन्त दुःखार्त्ता वाग्भिस्तोत्त्रैरिवद्विपान्॥

(वाल्मीकिरामायण २। ४८। ५-६)

किमधिकं, पशु-पक्षियोंने भी अपना खाना-पीना-पिलाना बंद कर दिया था—

व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥

(वाल्मीकिरामायण २। ४१। १०)

किसी सामान्य राजपुत्रके वियोगसे ऐसा दुःख सम्भव नहीं है। इस संतापका एकमात्र कारण यही है कि श्रीराम प्राणोंके प्राण, जीवके जीव और सुखके सुख हैं—

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक प्रकासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥
सुख-स्वरूप रघुबंसमनि मंगल मोद-निधान।' (इत्यादि)

अतः जीवको इस 'दुःखालय' (गीता अ० ८) 'अनित्यमसुखम्' (गीता ९। ३३) लोक—संसारसे सुख मिलनेकी आशा छोड़, भगवद्भजन-भगवत्प्राप्ति-सम्मिलन-से ही सुख-प्राप्तिके प्रयत्नमें लग जाना चाहिये। इसीमें सच्ची बुद्धिमत्ता है।

अप्रकाशित ('गोपीगीत' श्लोक १८ के 'त्वत् स्पृहात्मनां' पदके प्रति बृहद् व्याख्यानका एक पृष्ठ)।

(प्रेषक—श्रीजानकीनाथ शर्मा)

सभी कर्मोंका नाम यज्ञ है

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके एक भाषणका सार)

गीताजीके श्लोकोंसे तो यही बात सिद्ध होती है कि सब कर्मोंका नाम यज्ञ है। कैसे होती है, इसपर विचार किया जाता है। यज्ञोंका विशेष वर्णन आता है, गीताके चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकसे ३१-३२ श्लोकोंतक। यज्ञोंका प्रकरण शुरू होता है चौथे अध्यायके २३वें श्लोकसे। उसमें भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

इसमें बतलाया गया है कि यज्ञके लिये आचरित सम्पूर्ण कर्म सर्वथा विलीन हो जाते हैं। अर्थात् वे शुभाशुभ फलका उत्पादन नहीं करते; फलदायक—बन्धनकारक नहीं होते। जन्म देनेवाले नहीं होते। कर्मोंकी प्रविलीनताका यही अर्थ है।

इस बातको दूसरे ढंगसे भगवान् कहते हैं तीसरे अध्यायके ९ वें श्लोकमें—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

[illegible] अन्यत्र कर्म बन्धनदायक होता है। [illegible] यज्ञके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं। केवल यज्ञार्थ कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उपर्युक्त दोनों ही जगह 'यज्ञ' शब्द आया है। चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकसे भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

चौदह यज्ञोंका उल्लेख किया गया है इस प्रकरणमें, जिनमें 'प्राणायाम'का नाम भी आया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४। २९)

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।

ऊपर 'जुह्वति' क्रिया दी गयी है। आगे और भी क्रियाएँ बतायी गयी हैं। जैसे उसी अध्यायके २८ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

दान-पुण्य आदि जितने भी कर्म पैसोंसे या पदार्थोंसे सिद्ध होते हैं, उन्हींको 'द्रव्ययज्ञ' कहा गया है। इसी प्रकार

जिसमें इन्द्रियोंका, मनका, शरीरका संयम किया जाय, उस तपस्याको भी 'यज्ञ' कहा गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—पातञ्जलयोगके ये आठ अङ्ग तथा हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जो अन्य योग हैं, उन्हें भगवान्ने 'योगयज्ञ' कहा है। स्वाध्याय अर्थात् वेदोंका पाठ, स्मृतियोंका पाठ, इन सबका मनन—इन सबका नाम भगवान्ने 'स्वाध्याय-यज्ञ' रक्खा। तथा इनके द्वारा जो समझ होती है, इतना ही नहीं, किसी भी बातको गहराईसे समझनेको 'ज्ञानयज्ञ' कहा गया है। इन सबको भगवान्ने 'यज्ञ' नामसे अभिहित किया है। इस यज्ञके प्रकरणका उपसंहार करते हैं भगवान् चौथे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

इस श्लोकमें यज्ञोंको कर्मजन्य बताया गया है। इसके पूर्ववर्ती श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

—जो बात भगवान्ने ४ थे अध्यायके २३ वें श्लोकमें कही थी—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।

—उसीका उपसंहार एक प्रकारसे वे चौथे अध्यायके ३१वें श्लोकमें करते हैं—'यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।' इसी प्रकार तीसरे अध्यायके १३ वें श्लोकमें देखिये—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

'यज्ञशेष भोजन करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।' अब देखिये—सब पापोंसे मुक्त हो जाना, सम्पूर्ण कर्मोंका लीन हो जाना और यज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही बात है; सबका तात्पर्य एक ही निकलता है। तीसरे अध्यायके नवें और तेरहवें एवं चौथे अध्यायके तेईसवें और इकतीसवें—इन चारों ही श्लोकोंमें यज्ञका फल बताया गया है—परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति, सम्पूर्ण पापोंका नाश और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद। अतः जितने भी उपाय परमात्माकी प्राप्तिके हैं, वे सब-के-सब गीतामें 'यज्ञ' नामसे अभिहित हुए हैं—यह बात सिद्ध हो गयी उपर्युक्त विवेचनसे। बीचमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ आदि सभी यज्ञोंकी चर्चा आ गयी। दान, तप, होम, तीर्थसेवन, व्रत—ये सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत आ गये—यह मानना ही पड़ेगा।

चौथे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह कहकर कि 'वेदकी वाणीमें बहुतसे यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है'—भगवान्ने दहरादिकी उपासनाका भी 'यज्ञ' शब्दमें अन्तर्भाव कर दिया, जिनका वर्णन गीतामें नहीं है; अपितु उपनिषद्में आया है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'इन सबको तू कर्मोंसे उत्पन्न जान'—'कर्मजान् विद्धि' और इस प्रकार जाननेसे तू मुक्त हो जायगा—'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'।

चौथे अध्यायके १५वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

यहाँ भी भगवान्ने कर्मपर जोर दिया है। उपर्युक्त श्लोकमें 'एवं ज्ञात्वा'से इस बातको जाननेकी बात जो कही गयी है, वह जिस प्रसङ्गसे कही गयी है, वह प्रसङ्ग चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें आता है। जो इस प्रकार है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

यहाँ भी 'कर्म'शब्द आया है। यहाँ कर्मकी बातपर ध्यान देना चाहिये। कर्ममात्रका नाम 'यज्ञ' है—यह बात अब बतलायी जाती है। चौथे अध्यायके १३वें श्लोकको अवतारणा हुई है उसी अध्यायके नवें श्लोकसे। नवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**—मेरा जन्म-कर्म दिव्य है। वह कर्म दिव्य क्यों है? अपने कर्मोंकी दिव्यताका प्रकरण भगवान्ने चलाया है १३वें श्लोकसे और जन्मकी दिव्यता भगवान्ने कही है चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे। वहाँ उन्होंने जन्मकी दिव्यताके साथ अपने जन्मका हेतु बताया और कहा कि 'मेरा जन्म-कर्म दिव्य है, इस बातको जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है।' चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

'चातुर्वर्ण्यकी जब मैंने रचना की, तब यह मेरा कर्म हुआ; पर मुझ करते हुएको भी तू अकर्ता जान।' इसके बाद वे कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृह[illegible]
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स ब[illegible]ते॥

'मुझे कर्म बाँधते नहीं और मेरी कर्मफलमें कोई स्पृहा नहीं है—इस प्रकार जो जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता ।' इस प्रकार भगवान्ने अपना कर्म बताया और यह भी बताया कि जो उनके कर्मोंका रहस्य जान लेता है, वह बँधता नहीं है । वह क्यों नहीं बँधता ? इसके दो हेतु बताये गये हैं । **'तस्य कर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारम्'**—'उन कर्मोंके कर्ता मुझको तू अकर्ता समझ ।' इस कथनसे तात्पर्य यह निकला कि 'भगवान्का कर्तृत्व अभिमानरहित है ।' साथ ही **'न मे कर्मफले स्पृहा'** कहकर वे बताते हैं कि 'उनमें कर्मफलकी इच्छा नहीं होती ।' जिस कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान न हो और फलकी इच्छा न हो, वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता, यह सिद्धान्त है । इसलिये भगवान् कहते हैं—**'इति मां योऽभिजानाति'** जो कोई भी मुझे ऐसा जान लेता है, वह **'कर्मभिर्न स बध्यते'**—'कर्मसे वह नहीं बँधता ।' मेरी तरह कर्तृत्व-अभिमान और फलासक्तिसे रहित होकर कोई भी कर्म करेगा, वह भी नहीं बँधेगा । इस प्रकार भगवान्ने अपने कर्मोंकी दिव्यता बतायी । जो कर्म बाँधनेवाले हैं वे ही कर्म मुक्तिदायक हो जायँ, यह दिव्यता है कर्मोंकी । इसीलिये कर्मयोगके प्रसङ्गमें भगवान्ने दूसरे अध्यायमें कहा है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**—'कर्मोंमें योग ही कुशलता' है । 'योग' किसका नाम है ? **'समत्वं योग उच्यते'**—'समताको ही योग कहा जाता है ।' यह समता कैसे प्राप्त होती है ? **'संगं त्यक्त्वा'** और **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'**—मनुष्य आसक्तिका त्याग करे और सिद्धि-असिद्धिमें सम हो जाय, तब समता आती है । समताका नाम ही योग है और योग ही कर्ममें कुशलता है । जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही कर्मोंकी कुशलता है । इसीलिये कहा गया है—

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥

कुछ लोग कहते हैं कि जबतक मुमुक्षा उत्पन्न न हो तभीतक कर्म करना है और मुमुक्षा उत्पन्न हो जानेपर मनुष्यको चाहिये कि वह संन्यास ले ले और कर्मोंका त्याग कर दे । यह अद्वैत-वेदान्तकी प्रक्रिया है । पर चौथे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

[illegible]एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

[illegible] पुरुषोंने भी ऐसा जानकर कर्म किया है ।' [illegible], कर्मोंका त्याग नहीं ।'

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।

'इसलिये तू कर्म ही कर **'कर्मैव कुरु'** ।' इस प्रकार भगवान्ने यहाँ कर्म करनेपर ही जोर दिया । फिर चौथे अध्यायके १६ वें श्लोकमें वे कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है'—इस बातको लेकर बड़े-बड़े पण्डित भी मोहमें पड़ जाते हैं । अतः मैं तुझे वह कर्म कहूँगा, जिसे जानकर तू बन्धनसे मुक्त हो जायगा । इस प्रकार १६वें श्लोकसे उपर्युक्त प्रसङ्गका उपक्रम करके उपसंहार करते हैं उसी अध्यायके ३२वें श्लोकमें । १६वें श्लोकमें उन्होंने जो बात कही—**'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** वही बात चौथेके ३२वेंमें उपसंहार करते हुए कही गयी है—**'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।'** इसी कर्मके अन्तर्गत यज्ञ हैं । जितने भी शुभकर्म हैं, उन्हीं सबका नाम है—'यज्ञ' और इन्हीं कर्मोंके द्वारा भगवान्के पूजनकी बात कही गयी है । अठारहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।'** पूजाका ही नाम यज्ञ है । इस प्रकार जितने भी कर्म हैं वे सब-के-सब यज्ञ हैं । 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, वे सब भी आ गये । अब जरा ध्यान देकर विचार करें—'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये ? गीताके अनुसार यज्ञ आदि जितने भी शुभकर्म हैं, सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तःपाती हैं । इसी 'यज्ञ' शब्दका चतुर्थी विभक्तिमें रूप होता है **'यज्ञाय'**—यज्ञके लिये । 'यज्ञार्थ'का भी वही अर्थ होता है जो 'यज्ञाय'का है । तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें आया है—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।'** यज्ञार्थ कर्मको छोड़कर अन्य सभी कर्म बन्धनकारक होते हैं । 'यज्ञार्थ कर्म'का अर्थ है—यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म । चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें कहा है—**'यज्ञायाचरतः'** यज्ञके लिये कर्म करनेका अर्थ है—कर्मके लिये कर्म करना अर्थात् लोकसंग्रहके लिये कर्तव्यमात्र करना । फलकी इच्छा, आसक्ति, कामना, कर्तृत्व-अभिमान आदि कुछ भी नहीं रखना । भगवान् कहते हैं तीसरे अध्यायके २०वें, २१वें श्लोकोंमें—**'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।'** इसके बाद वे २२वें श्लोकमें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

'मेरे लिये न तो कोई कर्तव्य शेष है और न प्राप्तव्य ही कुछ बाकी है, तो भी मैं कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि केवल कर्तव्य-बुद्धिसे, लोक-संग्रहकी दृष्टिसे लोक-शिक्षाके लिये कर्म किये जाने चाहिये। अपना कोई स्वार्थ न रहे, कोई कर्तृत्व-अभिमान नहीं, ममता नहीं, आसक्ति नहीं, विषमता नहीं, किसी प्रकारकी कोई इच्छा नहीं, कोई आग्रह नहीं एवं कहीं कोई लगाव नहीं। निर्लिप्त होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्म 'यज्ञ' हो जाते हैं। कर्म किया जाय यज्ञार्थ—यज्ञके लिये ही; लोकपरम्परा सुरक्षित रखना ही उसका उद्देश्य हो, लोगोंका पतन न हो—इसी भावसे कर्म किया जाय, वह होगा 'यज्ञार्थ कर्म'। यज्ञ शब्दका यह तात्पर्य निकला।

अब दूसरी दृष्टिसे देखिये कि 'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये। गीताके चौथे अध्यायमें जो 'यज्ञ' शब्द आया है, उसी यज्ञके विषयमें अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके प्रारम्भमें एक बात पूछी है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

'शास्त्रविधिका त्याग करके जो यजन करते हैं उनकी निष्ठा कौन-सी है?' जितने यज्ञ होते हैं सब-के-सब शास्त्र-विधिसे सम्पन्न होते हैं—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्'**। **'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'**—वे यज्ञ वेदवाणीमें कहे गये हैं। वेदवाणीमें कहे गये अर्थात् शास्त्रोंमें उनका विधान किया गया है। परंतु अर्जुनके प्रश्नमें शास्त्रविधिके त्यागपूर्वक यजनकी बात कही गयी है। इसीपर यह प्रश्न उठाया गया है कि शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके जो यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी होगी! शास्त्रविधिके त्यागका फल तो विपरीत होना चाहिये और यजन-पूजनका फल उत्तम होना चाहिये। दोनोंके सम्मिलित परिणामस्वरूप उनकी निष्ठा कौन-सी होगी—यही प्रश्न अर्जुनके मनमें उठा, जिसका उत्तर भगवान्‌ने दिया है सत्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें। वैसे तो सत्रहवाँ अध्याय पूरा इस प्रश्नके उत्तरके रूपमें है, पर यज्ञके विषयमें उत्तर दिया गया है चौथे श्लोकमें—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

इससे यह सिद्ध हो गया कि सात्त्विक, राजस, तामस तीन तरहकी निष्ठा उनकी होती है। पूजा होती है देवताओंकी। प्रश्न यह होता है कि 'यजन्ते' द्वारा जिनके पूजनकी बात कही गयी है, वे देवता कौन हैं और उनका यजन क्या है? इनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर उपर्युक्त श्लोकमें यह दिया गया है कि सात्त्विकोंके पूजनीय सात्त्विक देवता हैं; राजस पुरुषोंके पूजनीय यक्ष-राक्षस और तामस पुरुषोंके पूजनीय प्रेत और भूतगण हैं। इनमें जो सात्त्विक आराधक हैं वे क्या करते हैं तथा राजस-तामस आराधक क्या करते हैं? इसका उत्तर चौदहवें अध्यायमें विस्तारसे दिया गया है—तथा उनकी गति चौदहवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कही गयी है। विस्तारमें जानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। बादमें सातवें श्लोकसे भगवान् इसका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। भगवान् कहते हैं—आहार तीन तरहका होता है। परंतु उसके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए वे यह नहीं कहते कि उक्त आहार कौन-कौनसे हैं, प्रत्युत यह बतलाते हैं कि सात्त्विक, राजस एवं तामस लोगोंके प्रिय लगनेवाले आहार कौन-कौनसे हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि अर्जुनने शास्त्रविधि-को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी थी। इसपर भगवान् सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

अन्तःकरणके अनुसार श्रद्धा होती है, ऐसी दशामें श्रद्धासे ही उसकी निष्ठाका पता लगेगा। उसकी यजन-क्रिया और श्रद्धासे ही उसकी पहचान होगी। शास्त्रविधि तो उसने छोड़ दी, अतः उसकी कसौटी लगेगी नहीं। ऊपर कहा गया है कि श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है और जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है—इस न्यायसे श्रद्धावान् पुरुष भी तीन ही तरहके होंगे। श्रद्धा होती है अन्तःकरणके अनुरूप। इसलिये तीन ही तरहके आहार उन्हें रुचिकर होंगे। जो किसी भी प्रकारकी पूजा—उपासना नहीं करते, उनकी निष्ठाका पता लगेगा उनके आहारसे। पूजा चाहे कोई न करे, आहार तो वह करेगा ही। उसीसे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी। इसीलिये भगवान् आहारकी बात कहते हैं—**'आहारस्त्वपि स[illegible] त्रिविधो भवति प्रियः'**। कुछ लोग कहते हैं [illegible] अध्यायके ७ वें श्लोकमें तीन प्रकारके आहारक[illegible]

परंतु वास्तवमें यह बात है नहीं। भगवान्‌ने आहारके साथ 'प्रिय' शब्द दिया है। 'प्रिय' शब्द इसलिये दिया गया है कि आहार मनुष्यको जैसा प्रिय होता है, वैसी ही उसकी प्रकृति होगी और जैसी उसकी प्रकृति है, श्रद्धा है, निष्ठा है, वैसा ही आहार उसे प्रिय लगेगा। आहारकी प्रियतामें आहारका वर्णन तो स्वतः हो गया। सात्त्विक पुरुषोंको सात्त्विक आहार प्रिय लगता है; राजस पुरुषोंको राजस एवं तामस पुरुषोंको तामस आहार प्रिय लगता है। अन्तःकरण आहारके अनुरूप बनता है। सातवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें आहारकी बात कहकर फिर उत्तरार्धमें यज्ञ, तप तथा दानके तीन भेद किये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आहारके साथ भगवान्‌ने यज्ञ, तप और दानकी बात क्यों छेड़ी ? आहारकी चर्चा तो आयी थी परीक्षाके लिये। इसका उत्तर यह है कि अर्जुनने अपने मूल प्रश्नमें यजन-पूजन करनेवालोंके विषयमें पूछा था। यजनके अन्तर्गत दान और तप भी आ जाते हैं। इसीलिये आगे चलकर सत्रहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

> ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
> ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

परमात्माके नाम हैं—ॐ, तत् और सत्। ब्राह्मणोंको, वेदोंको, यज्ञोंको जिस परमात्माने बनाया उसी परमात्माके ये नाम हैं। यज्ञकी क्रिया सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मण, यज्ञकी विधि बतानेवाले वेद और यजनकी क्रियाका नाम यज्ञ। परमात्माने इन तीनोंको रचा, इसीलिये सत्रहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

> तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
> प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
> (१७।२४)

अतएव 'हरिः ॐ' इस प्रकार उच्चारण करके ही यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिये एवं इसी प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष करते आये हैं। इसके बाद भगवान् कहते हैं—

> तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
> दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
> (१७।२५)

> सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
> [illegible]ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
> (१७।२६)

भगवान्‌के नामोंका उल्लेख यहाँ इसलिये किया गया कि यज्ञ-दान-तपमें कोई अङ्ग-वैगुण्य रह जाय या कोई कमी रह जाय तो परमात्माके नामोच्चारणसे उसकी पूर्ति कर दी जाय; क्योंकि परमात्मासे ही यज्ञ पैदा हुए, परमात्मासे ही ब्राह्मण पैदा हुए और वेद भी प्रकट हुए परमात्मासे ही। इनमें कोई कमी रहेगी तो इन सबके मूल परमात्माका नाम लेनेसे उसकी पूर्ति हो जायगी। अठारहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें भी इन्हीं तीन शुभ कर्मोंका उल्लेख हुआ है—

> **यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**
> **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥**

कहीं-कहीं शुभकर्मोंकी संख्या चार भी कही गयी है, जैसे आठवें अध्यायके २८वें श्लोकमें वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान—चारका नाम आया है। कहीं-कहीं पाँचका भी उल्लेख हुआ है—जैसे ग्यारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें—**'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।'** वेद, यज्ञ, दान, तपके अतिरिक्त पाँचवीं क्रिया भी आ गयी। नवें अध्यायके २७वें श्लोकमें वेदाध्ययनके साथ भोजनका उल्लेख हुआ है—**'यदश्नासि'** कहकर इस प्रकार शुभकर्मोंके नामपर कहीं छःका, कहीं पाँचका, कहीं चारका, कहीं तीनका और कहीं केवल एक यज्ञका ही निर्देश भगवान्‌ने किया है। एक यज्ञके उल्लेखसे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका उल्लेख हो गया। **'यत्करोषि'**के अन्तर्गत चारों वर्णोंके जीविकोपयोगी कर्म भी आ गये, जिनका वर्णन श्रीभगवान्‌ने १८वें अध्यायके ४१वें श्लोकसे प्रारम्भ करके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके कर्म, ४३वेंमें क्षत्रियके एवं ४४वेंमें वैश्यके तथा शूद्रके कर्म बताये हैं। और फिर ४५वें श्लोकमें उन कर्मोंसे होनेवाली सिद्धिका उल्लेख किया है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** जो सिद्धि यज्ञोंसे बतायी गयी, वही यहाँ वर्णोचित कर्मोंसे बतायी गयी है और उसकी प्राप्तिका प्रकार ४६वें श्लोकमें कहा गया है—

> **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
> **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'**
> (१८।४६)

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'से कर्मद्वारा पूजाकी बात आयी। तब ये कर्म यज्ञरूप ही हुए न ?

माताएँ रसोई बनायें और ऐसा मानें कि मैं इस रूपमें भगवान्‌का पूजन कर रही हूँ; तो रसोई बनाना भी भगवान्‌का पूजन हो जायगा। मनुजी महाराजने रसोई बनानेकी क्रियाको भी 'यज्ञ' कहा है। मनुजी महाराजने लिखा है कि स्त्रीका पतिदेवके घरमें जाना ही उसका गुरुकुल-वास है। कारण, पति ही उसका एकमात्र गुरु है—'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्।' वहाँ रसोई बनाना उसके लिये है—'अग्निहोत्र।' अग्निहोत्र ही यज्ञ है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने अध्ययनको यज्ञ मान सकता है। निष्काम भावसे तथा शुद्धरीतिसे किये गये सांसारिक सभी कार्य 'यज्ञ'रूप होते हैं। आयुर्वेदका जाननेवाला केवल जनताके हितके लिये वैद्यका काम करे तो उसके लिये वही यज्ञ है। इस प्रकार गीताके अनुसार कर्तव्यमात्र ही यज्ञ—भगवान्‌का पूजन बन जाता है। अवश्य ही कर्ममात्र भगवान्‌का पूजन तब होगा जब आप उसे भगवान्‌की पूजाके लिये करें। परंतु यदि भाव आपका वैसा नहीं होगा तो 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' जो जैसी श्रद्धावाला होगा, उसकी निष्ठा वैसी ही होगी। आप रुपयोंके लिये व्यापार करेंगे तो आपको रुपया मिलेगा, आपका किया हुआ व्यापार यज्ञ नहीं होगा; क्योंकि आपकी वैसी श्रद्धा नहीं, वैसा भाव नहीं है। जहाँ आपका वैसा भाव होगा वहीं आपका कर्म यज्ञ बन जायगा।

अब अपने विचार करें कि यज्ञ क्या है और देवता क्या हैं? देवता तो हुए यज्ञका फल देनेवाले उसके अधिष्ठातृ देवता। अब उनका यज्ञके द्वारा पूजन करना है, तो पूजन आहुतिके द्वारा भी होता है और कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भी। कर्त्तव्य-कर्मोंके द्वारा पूजन सब कोई कर सकते हैं। मनुष्य है मध्यलोक—मर्त्यलोकका निवासी। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक—इन तीन लोकोंके समुदायका नाम है—त्रिलोकी। त्रिलोकीके मध्यमें रहनेवाला है—मनुष्य। भगवान्‌ने मनुष्यको मध्यमें निवास इसीलिये दिया है कि वह देवताओंकी भी तृप्ति कर सकता है और नरक एवं अधोलोकोंमें रहनेवालोंकी भी तृप्ति कर सकता है। सबका तर्पण होता है। द्विजातिलोग देवताओंका तर्पण करते हैं, ऋषियोंका तर्पण करते हैं, पितरोंका तर्पण करते हैं, भूत-प्राणियोंका तर्पण करते हैं तथा भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनियोंमें गये हुए बान्धवोंका तर्पण करते हैं। जिनके वंशमें कोई नहीं रहा, उनका भी तर्पण करते हैं। इस विषयमें तर्पणकी विधि देखें। जिनके कोई जल देनेवाला नहीं, उनका भी तर्पण करते हैं। साँप-बिच्छू आदि जितने अधोगतिमें गये हुए जन्तु हैं, जितने मध्यगतिको प्राप्त हैं और जितने ऊर्ध्व-गतिमें गये हुए हैं, सबको यहाँतक कि ऊँचे-से-ऊँचे भगवान्‌को भी तर्पण करते हैं। समुद्रको तर्पण करते हैं। समुद्रमें जल कम है क्या, जो जलसे उसकी तृप्ति की जाय? तात्पर्य यह कि मध्यमें रहनेवाला यह मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके जीवोंको तृप्त करता है। इस प्रकार सबको तृप्त करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है। वह त्रिलोकीके जीवोंको ही नहीं, भगवान्‌को भी तृप्त करता है। भगवान्‌की भी भूख-प्यास मिटानेवाला यदि कोई है तो वह मनुष्य ही है। भगवान् नवें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

'मुझमें मन लगा, मेरा ही भजन कर, मेरा पूजन कर और मुझे ही नमस्कार कर।' यहाँ यह प्रश्न होता है 'भगवान्‌को भी भूख लगती है क्या?' 'हाँ' 'क्यों, उनमें भी कोई कमी है?' 'हाँ'—विनोदकी-सी बात है। जीव जो अधोगतिमें जा रहे हैं, यही भगवान्‌में कमी है। सारा संसार मिलकर भगवान्‌का स्वरूप है। अतः जो अधोगतिमें जाते हैं, उतना अङ्ग भगवान्‌का ही तो अधोगतिमें जाता है। यही भगवान्‌की भूख है। भगवान् कहते हैं—'तू अपना सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो तेरा कल्याण हो जाय और मेरा काम बन जाय।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌की तृप्ति भी मनुष्य कर सकता है। जीव-जन्तुओंकी तृप्ति तो वह करता ही है। भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि 'भक्त मुझे बेच दे तो मैं बिक जाता हूँ।' 'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि' ऐसी दशामें बताइये कि भक्त भगवान्‌के इष्ट हैं कि नहीं? अर्जुनको भी भगवान् अठारहवें अध्यायके ६४वें श्लोकमें कहते हैं—'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' तू मेरा इष्टदेव है। जीव भगवान्‌को इष्ट मानता है। भगवान् कहते हैं—'तू मेरा इष्ट है।' जो भगवान्‌को अपना मन सौंप देता है, उसे भगवान् अपना इष्ट मान लेते हैं, उसका आज्ञापालन करते हैं। रामावतारमें भगवान् कहते हैं—'मैं सीताका [illegible] कर सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ, अग्निमें [illegible] सकता हूँ, परंतु पिताकी आज्ञा भंग करने[illegible]

फ० २—

नहीं । यह मनुष्य चाहे तो भगवान्का माँ-बाप बन जाय, भगवान्का दास बन जाय, भगवान्का भाई-बन्धु बन जाय, भगवान्की स्त्री बन जाय, भगवान्का बच्चा बन जाय, भगवान्का शिष्य बन जाय या गुरु बन जाय । अपने कुटुम्बसे ही तो आप राजी होते हैं । भगवान्का सम्पूर्ण यह मनुष्य बन सकता है । यह भगवान्का सब कुछ बन सकता है । भगवान् उसे वही बना लेंगे और वैसी-की-वैसी मर्यादा उसके साथ निभायेंगे । वे उसके सुपुत्र बन जायँगे । भाई भी बनेंगे तो असली । सुपुत्र-सत्पति-सन्माता सब कुछ बन जायँगे भगवान् । शिष्य बने तो श्रेष्ठ चेला बनेंगे भगवान् । वसिष्ठजीके चेला श्रीराम थे ही । विश्वामित्रजीका चरण वे चाँपते ही थे । वे जहाँ जो भी बनते हैं, स्वाँग पूरा उतारते हैं । भगवान्का सब कुछ मनुष्य बन सकता है; इतना बड़ा अधिकार मनुष्यको भगवान्ने दिया है ।

अब उसके लिये कहते हैं—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।'** इसके पूर्व ८ वें श्लोकमें कहा—**'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।'** नियत कर्म कर और न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है । **'अकर्मणः ते शरीरयात्रापि न प्रसिद्ध्येत् ।'** कुछ नहीं करेगा तो तेरा निर्वाह भी नहीं होगा, जीवन भी नहीं चलेगा । कर्म करनेसे ही होगा । साथ ही शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि कर्मोंसे जन्तु बँधता है । **'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।'** यह ध्यान देनेकी बात है कि यहाँ 'जन्तु' शब्दका प्रयोग हुआ है । जन्तु शब्दका स्वारस्य यह है कि जन्तु (जानवर) ही बन्धनमें आते हैं, मनुष्य नहीं । मनुष्य बँधता है सकाम-कर्म करके, स्वार्थबुद्धिसे । ऐसे मनुष्यको जन्तु ही समझें । गीता भी कहती है—**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'** जो स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर मोहमें फँसे हुए हैं, वे मनुष्य थोड़े ही हैं, वे तो जन्तु हैं—भले ही उनकी आकृति मनुष्य-की-सी क्यों न हो । **'यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ।'** जानवरकी सारी चेष्टाएँ कामयुक्त—स्वार्थप्रेरित होती हैं । कामनासे ही कर्म बन्धनकारक होता है ।

इसलिये भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

जो कर्म परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, [illegible] के उद्धारके लिये, आसक्ति, स्वार्थ और कामनाको [illegible] जाता है, वह बाँधता नहीं है । यही है 'यज्ञ' ।

इसके अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।'** सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्न किया । यहाँ 'प्रजाः' शब्दके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी आ जाते हैं । 'प्रजाः' शब्दके साथ 'सहयज्ञाः' विशेषणको देखकर यह शङ्का होती है कि यज्ञमें सबका अधिकार तो है नहीं, फिर भगवान्ने सारे प्रजाजनोंके साथ यह विशेषण क्यों लगाया ? इसका उत्तर यही है कि यहाँ उस यज्ञकी बात नहीं है, जिसमें सबका अधिकार नहीं । यहाँ 'यज्ञ'का व्यापक अर्थ—'कर्तव्य-कर्म' लेना चाहिये । 'यज्ञ'का इसी अर्थमें प्रयोग समझना चाहिये । **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** द्वारा भगवान्ने आगे चलकर यही बताया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी अपने-अपने कर्मद्वारा उनका पूजन करें । इसी कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा—इसके द्वारा तुम सबकी वृद्धि करो और यही तुम्हारी इष्टकामनाकी पूर्ति करनेवाला हो—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

परंतु साथ ही भगवान् कहते हैं—'इष्टकामनाके साथ, अपना सम्बन्ध मत जोड़ना ।' तुम यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करो । गीता अध्याय २ श्लोक ४५ में भगवान् अर्जुन-को **'निर्योगक्षेम आत्मवान्'** बननेको कहते हैं और ९वें अध्यायके २२ वें में कहते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** 'तुम्हारे योगक्षेमका वहन मैं करूँगा, तू उसकी चिन्ता छोड़ दे ।' इसी प्रकार यहाँ भी वे कहते हैं—'देवताओंका तुम पूजन करो पर देवताओंसे कुछ चाहो मत । देवता तुम्हारा काम करें पर यह तुम उनसे चाहो मत । चाहनेसे सम्बन्ध जुड़ जाता है । चाहयुक्त कर्म हो जाता है 'तुच्छ' । उदाहरणके लिये गीता-का विवेचन किया हमने, भिक्षा दे दी आपने, दोनोंका काम हो गया । पर गीताका विवेचन किया हमने और उसके साथ यह स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लिया कि गीताकी बात सुनानेसे हमें रोटी मिल जायगी तो हमारा यह काम तुच्छ हो जायगा । किसी भी क्रियाके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह क्रिया तुच्छ हो जाती है, निकृष्ट हो जाती है, बन्धनकारक हो जाती है । कोई पूछे—'परम श्रेय कैसे होगा ?' उत्तर है 'अपने कर्तव्यका पालन करो; परंतु लोकहितके लिये । उससे अपने स्वार्थका सम्बन्ध मत जोड़ो ।'

क्या बतायें सज्जनो ! आप सब काम करते हैं । घरोंमें बहनें, माताएँ, भाई, बच्चे, छोटे-बड़े सब काम करते हैं; परंतु बड़ी भारी भूल होती है यह कि आसक्ति, कामना और स्वार्थके साथ हमलोग सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; किंतु उससे लाभ कुछ नहीं होता। लौकिक लाभ भी नहीं होता; फिर अलौकिककी तो बात ही क्या है ? इच्छावालेको लोग अच्छा भी नहीं कहते । कहते हैं—'अमुक बड़ा स्वार्थी है, पेटू है, चट्टू है।' उसके चाहनेपर हम कौन-सा अधिक दे देंगे ? उल्टा कम देंगे । स्वार्थका सम्बन्ध रखनेवालेको अधिक देना कोई नहीं चाहता । किसी साधु-ब्राह्मणको कुछ देंगे तो त्यागी देखकर ही देंगे या भोगी-रागी समझकर देंगे ? घरमें भी रागीसे, भोगीसे वस्तु छिपायी जाती है । जो रागी नहीं होगा, उसके सामने वस्तु बेरोक-टोक आयेगी । रागीको वस्तु मिलनेमें भी बाधा लगेगी और कल्याणमें तो महती बाधा लगेगी ही । इसके विपरीत अपना कर्तव्य समझकर सेवा करोगे तो सेवा तो मूल्यवती होगी और वस्तु अनायासमें मिलेगी । आराम मुफ्तमें मिलेगा । मान-सत्कार-बड़ाई मुफ्तमें मिलेगी । पर चाहोगे तो फँस जाओगे । यह बात गीता ग्रन्थि खोलकर बताती है । तुम जो काम करो, इस रीतिसे करो । तीसरे अध्यायके १०-११-१२ में भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

इस यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त हो । यज्ञके द्वारा पूजित देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे । अपने-अपने कर्तव्यद्वारा सृष्टिमात्रको सुख दो । इससे विश्व-ब्रह्माण्डका, प्राणिमात्रका हित होगा । स्वार्थ, ममता, आसक्ति छोड़कर कामना एवं कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेसे सृष्टिमात्रको शान्ति मिलती है, सृष्टिमात्रका उद्धार होता है, कल्याण होता है, हित होता है । कितना बड़ा उपकार होता है केवल कामना छोड़नेसे । जो-जो कर्तव्य-कर्म करते हो, उसे किये जाओ, अकर्तव्य तो करो नहीं और कर्तव्य-कर्ममें कामना-आसक्ति न करो तो सारे संसारका हित होगा, सबका कल्याण होगा । **'श्रेयः परमवाप्स्यथ'** । जो दूसरोंको उनका हिस्सा न देकर अकेला खाता है, वह चोर है—**'स्तेन एव सः ।'**

श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञशेष खानेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो अपने लिये पकाते हैं वे पापी पापका ही भक्षण करते हैं—निरा पाप खाते हैं । मनुष्यमें स्वार्थबुद्धि जितनी अधिक होगी, उतना ही बड़ा पापी वह होगा । एक बात और है । यज्ञ जो किया जाता है, उसमें होम मुख्य है—आहुति देना मुख्य है ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यनारायणकी किरणोंको पुष्टि पहुँचाती है और वे किरणें पुष्ट होकर जल खींचती हैं और वह जल मेघ बनकर बरसता है । उस वर्षासे जगत्‌की तृप्ति होती है । इससे भी यही बात प्रकट होती है । शुभ कर्म करनेसे देवताओंकी संतुष्टि होती है । आप यदि अपने माता-पिताकी आज्ञाको मानकर शुभ कर्म करेंगे तो इससे माता-पिता प्रसन्न होंगे ही । उनकी प्रसन्नता क्या सामान्य अर्थ रखती है ? वह बड़ी मूल्यवान् निधि है । इसी प्रकार यदि आप अपने शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन करेंगे तो इससे क्या ऋषि-मुनि-देवता आपसे प्रसन्न नहीं होंगे ? यही है यज्ञके द्वारा उनका पूजन । उनका पूजन किस प्रकार होगा—यह भी भगवान् बतलाते हैं ?

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

प्राणी जितने भी पैदा होते हैं, वे अन्नसे होते हैं । अन्न होता है पर्जन्यसे—वर्षासे और वर्षा यज्ञसे होती है । यज्ञ किससे होता है ? 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।' यज्ञ कर्मसे निष्पन्न होता है । कर्म होता है वेदसे । वेद प्रकट होते हैं अक्षर परमात्मासे । इसलिये भगवान् कहते हैं—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
(१७ । २३)

सबका मूल है परमात्मा, परमात्मासे प्रकट हुए वेद । वेदोंने बतायी क्रियाकी विधि । क्रियासे कर्म किया ब्राह्मणोंने अर्थात् प्रजाने । उन कर्मोंसे हुआ यज्ञ, उस यज्ञसे [illegible] वर्षा । वर्षासे हुआ अन्न; अन्नसे हुए प्राणी [illegible] प्राणियोंमेंसे मनुष्योंने यज्ञ किया । यज्ञ पशु-पक्षि[illegible] [illegible]

रहे। ये वृक्ष, घास और पहाड़ यज्ञ थोड़े ही कर सकते हैं ? मनुष्य ही कर सकते हैं। इस प्रकार यह सृष्टि-चक्र चल पड़ा। वह परमात्मा सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है। परमात्माकी सर्वगतताके विषयमें भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (९।४)

'अव्यक्तरूपसे मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ।'

इसपर शंका होती है कि भगवान् जब सर्वगत हैं, तब उन्हें केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा ? क्या वे अन्यत्र नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं ? वे तो सभी जगह नित्य हैं। फिर यज्ञमें क्या विशेषता है ? इसका उत्तर यह है कि यज्ञमें परमात्मा प्राप्त होते हैं। जमीनमें सर्वत्र जल है, पर वह मिलता है कुएँमें, सब जगह नहीं मिलता। पाइपमें सब जगह जल भरा रहता है, पर वह मिलता है वहीं, जहाँ कल लगी होती है। सब जगह जल है नहीं, ऐसी बात हम थोड़े ही कह सकते हैं। पर सर्वत्र वह मिलता नहीं। इसीलिये सर्वगत ब्रह्मको नित्ययज्ञमें प्रतिष्ठित कहा गया है। यज्ञ कौन-सा ? कर्तव्य-कर्ममात्र, जो निष्कामभावसे किया जाय, वही 'यज्ञ' है।

अब देखिये, यज्ञकी परिभाषा ध्यानमें आ गयी। और उस यज्ञमें परमात्मा मिलते हैं यह बात भी समझमें आ गयी। उस यज्ञके विषयमें भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
(गीता ३।१३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
(गीता ४।३१)

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गीता ४।१६)

इसलिये कोई परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो वह यज्ञ करे। जो यज्ञ नहीं करता उसके विषयमें भगवान् कहते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(गीता ३।१६)

उपर्युक्त चक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता, इसके अनुसार नहीं चलता, उसके लिये भगवान्ने तीन विशेषण दिये हैं—'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।' 'अघायु' कहनेका तात्पर्य यह है कि उसकी आयु, उसका जीवन निरा पापमय है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

'जीवत जड़ नर परम अभागी'। वे परम अभागे हैं।

'जीवत सव सम चौदह प्रानी'—वे जीते ही मुर्देके समान हैं जो भगवान्की दिशामें नहीं चलते। उनकी आयु अघरूप है। कहा है—

पर निंदा पर द्रोह रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥

ऐसे लोग नररूपमें राक्षस हैं। मनुष्यको खा जाय वह राक्षस। उनके लिये दूसरा विशेषण दिया है—'इन्द्रियाराम'। केवल इन्द्रियोंको सुख पहुँचाना—भोग भोगना, सुस्वादु भोजन खाना, सुन्दर दृश्य देखना, कोमल वस्तुओंका स्पर्श करना, आलस्यसे सोना—यही है इन्द्रियारामता। तीसरी बात कहते हैं—'मोघं पार्थ स जीवति' वह संसारमें व्यर्थ ही जीता है। यह हुई सभ्यताकी भाषा। तात्पर्य है कि वह मर जाय तो अच्छा। उसका न जीना ही अच्छा है। श्रीगोस्वामीजीने कह दिया—'कुंभकरन सम सोवत नीके'। यह तो सोया रहे तभी अच्छा। अभिप्राय यह कि ऐसे लोग पृथ्वीपर भाररूप ही हैं—पृथ्वीने कहा मुझे भार वनस्पतिका नहीं है, पहाड़ोंका नहीं है, मुझपर भार तो उसका है, जो भगवद्भक्तिसे हीन है—'भगवद्भक्तिहीनो यस्तस्य भारः सदा मम'। उसका मुझपर सदा भार है। उपर्युक्त सृष्टिचक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता, भगवान् कहते हैं—'उसका जीवन भाररूप है।' सृष्टिचक्रका अनुवर्तन क्या है—यह ऊपर बता ही दिया गया। निष्काम भावसे या भगवान्की पूजाके भावसे अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करना ही सृष्टिचक्रका अनुवर्तन है। जिसका, जहाँ जो कर्तव्य-कर्म है, वह उस कर्मको करे। साथमें कर्तृत्वाभिमान न हो, ममता न हो, आसक्ति न हो, कामना न हो, पक्षपात न हो, विषमता न हो। ये सब विषरूप हैं। सिंगीमोरा, संखिया है, कुचिला है, भिलावा आदि जो जहर हैं, उन्हें भी वैद्यलोग शुद्ध करके औषधरूपमें प्रयोग करते हैं। उनसे रोग दूर होते हैं। उनका जहर यदि बना रहे तो उससे मनुष्य मर जाता है। आसक्ति, कामना, पक्षपात, विषमता, अभिमान, स्वार्थ आदि सब कर्मोंमें जहररूप हैं। इस जहरके भागको निकाल देनेसे हमारे कर्म महान् अमृतमय होकर जन्म-मरणको मिटा देनेवाले बन जायँगे। कैसी बढ़िया बात है ! गीता हमें यही सिखाती है !

हमसे दूर रहें

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हमारे पास कौन रहे ? हमसे क्या दूर रहे ? इन प्रश्नों-ने भारतीय विचारकोंको सदा उलझनमें डाला है ।

हमसे क्या दूर रहे ? इस प्रश्नपर हमारे मनीषियोंने बहुत सोचा है, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे विचार किया है, विषयके हर पहलूपर मन्थन किया है । यह उत्तर मानव-जीवनकी प्रगति और विकासके लिये उपयोगी है ।

हमसे दूर वे चीजें रहें, जो हमारा अहित करती हैं; वे दुर्गुण दूर रहें, जो हमारे मन, शरीर और आत्माको हानि पहुँचाते हैं; वे व्यक्ति दूर रहें, जो अपने सङ्गसे हमारे अंदर दोष उत्पन्न करते हैं। हमारी खराब आदतें, बुरा स्वभाव, क्लेश, रोग, शोक, चिन्ता और द्वेष हमसे दूर रहें; क्योंकि ये सब अस्वास्थ्यकारी और हानिकारक हैं । वे कौन-कौन-से विषैले विषय हैं जो हमसे दूर रहें ? हमारे शास्त्र कहते हैं—

हमसे वे लोग दूर रहें !

संसारमें असंख्य व्यक्ति हैं, भिन्न-भिन्न रंग, रूप, रुचि, स्वभाव और मानसिक विकासके हैं; पृथक्-पृथक् आदर्श और उद्देश्यवाले हैं; रहन-सहन और आदतोंमें अलग-अलग हैं । ये व्यक्ति बाहरसे सब एक-से ही लगते हैं, पर मन, बुद्धि और स्वभावसे बिल्कुल भिन्न हैं । इनके आचरणमें जमीन-आसमानका अन्तर है । कुछसे आपके जीवनमें नया उत्साह और उन्नतिके लिये नवप्रेरणा मिलती है, दूसरोंसे कोई कुरुचि या विषैली आदत मिल सकती है । अतः अच्छे-बुरे, ऊँचे-नीचे, उन्नतिशील और पतनो-न्मुख आदमियोंकी पहचान बड़ी जरूरी है । आप अच्छे विचार और शुभ संकल्पोंवाले व्यक्तियोंके सत्संगमें रहें और इनसे बचें—

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान् मर्तो मर्तं मर्चयति द्वयेन ।
अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नोदुरिताय धायीः ॥

(ऋग्वेद १ । १४७ । ५)

अर्थात् आप उन व्यक्तियोंसे सदैव दूर रहें, जो दूसरों-की निन्दा और परछिद्रान्वेषणमें ही लगे रहते हैं; क्योंकि उनके साथ रहनेसे अपना स्वभाव भी वैसा ही त्रुटिपूर्ण बन जाता है ।

ऐसे व्यक्ति सदा दूसरोंकी कटु आलोचना और खराबियाँ निकालनेमें ही लगे रहते हैं । उनमें नैतिक, सांसारिक, व्यापारिक और आत्मिक कोई भी लाभ नहीं होता । उनके सङ्गसे पर-दोष-दर्शनकी क्षुद्र तथा नीच प्रवृत्ति बढ़ती है ।

हम जैसे लोगोंके साथ दिन-रात रहते हैं, गुप्तरूपसे उनके विचार और आदतें भी ग्रहण करते जाते हैं । गुण-अवगुण सब संक्रामक हैं । इसलिये निन्दा करनेकी क्षुद्र प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंसे सदा बचना चाहिये ।

अज्ञानियों और मूढ़ जनोंसे दूर रहें !

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे ।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥

(ऋग्वेद १ । १५८ । ६)

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति (अपनी मूढ़ता, अज्ञानता, संकुचितता और अल्पज्ञताके कारण) लोभातुर होकर रोग-शोकसे दुःख पाते हैं, किंतु धर्मनिष्ठ पुरुष ज्ञान और विज्ञान बढ़ाकर स्वयं बन्धनमुक्त रहते हैं तथा दूसरोंको भी संसार-सागरसे पार ले जाते हैं ।

अज्ञानसे अदूरदर्शिता उत्पन्न होती है । अविकसित व्यक्तिकी दर्शन-पद्धति संकुचित रहती है । वह उन चीजों-को अनावश्यक महत्त्व देता है, जिनका वास्तवमें साधारण-सा स्थान है । अज्ञानी लोग गुण, कर्म और स्वभावके स्थान-पर पूर्वपुरुषों और माता-पिताके द्वारा अर्जित सम्पत्तिसे मनुष्यकी उच्चता-नीचता परखते हैं । वे अपनी भेड़ चालसे समझदार आदमियोंको भी गुमराह करते हैं ।

नादान दोस्तसे समझदार दुश्मन ज्यादा अच्छा है; क्योंकि हमें सदा उससे चौकन्ना रहना पड़ता है ।

हम साधु पुरुषोंके ही साथ रहें !

आप समझदार, विद्वान्, शान्त और संतुलित रहने[illegible] व्यक्तियोंके ही साथ र[illegible] जि[illegible]से आपको सुरुचि[illegible]

तः मि[illegible]

सद्ज्ञान मिले, उसीका सत्संग करें। झगड़ालू और उत्तेजक स्वभाववालोंसे दूर रहें।

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाऽविष्यवे रिपवेदुच्छुनायै।
मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन् परा दाः ॥
(ऋग्वेद १ । १८९ । ५)

याद रखिये, इस समाजमें आपके चारों ओर अच्छे-बुरे सभी प्रकारके आदमी हैं। यहाँ मङ्गल मृदु स्वभाववाले सज्जन पुरुष भी हैं और बाघ, सर्प, बिच्छू आदि हिंसक विषैले जीवजन्तु भी बड़ी संख्यामें छिपे हुए हैं। बल्कि ये दूसरी कोटिमें विषैले व्यक्ति अधिक हैं और आपको परेशान करनेका मौका ढूँढ़ते रहते हैं।

इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि इन असाधुओंसे बचकर साधु-पुरुषोंका साथ करे, शुभ कर्मोंको ही ग्रहण करे और दुष्कर्मोंसे दूर रहे।

हमारे कर्मका कभी नाश नहीं होता। कल्याणकारी धर्म-कर्म, दूसरोंकी सेवा और सहायता, पुण्य-कार्य सदा ही देर-सबेर फलदायक होते हैं। इस लोक और परलोकमें धर्मको ही सबसे श्रेष्ठ कहा है। बुद्धिमान् धर्मसे बढ़कर किसीको बड़ा नहीं कहते—

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥

धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंके साथ रहिये। उनसे आपको जीवन और जगत्-सम्बन्धी उत्तमोत्तम रहस्य प्राप्त होंगे। उनके आचरण, वाणी, कर्मसे आपके उन्नतिशील जीवनको प्रेरणा प्राप्त होगी।

आयुर्नसुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशांपते।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥

यह दुर्लभ आयु पाकर मनुष्यको कभी पाप-कर्म नहीं करना चाहिये। समझदार व्यक्तिको सदा ही पुण्यकर्मोंसे अपनी और समाजकी उन्नतिके लिये कार्य करना चाहिये।

हम कटुवचन बोलनेवालोंसे दूर रहें!

कुवाणीका प्रयोग करनेवाले, सदा दूसरोंको गाली देनेवाले, कुवचनोंका प्रयोग करनेवाले असभ्य व्यक्तियोंसे [illegible] चाहिये। वे लोग पशु-तुल्य होते हैं और मनुष्यकी सबसे बड़ी विभूति वाणीका दुरुपयोग करते हैं।

गाली या अश्लील भाषाका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति अंदरसे पशु-प्रवृत्तियोंमें ही जकड़ा रहता है। गाली समाजके लिये अहितकर है। अंदर छिपे हुए पाप और दुष्ट वासनाको प्रकट करनेवाला दोष है।

सदा निन्दा, क्रोध तथा कटुवचनोंका प्रयोग करनेवाले मानसिक दृष्टिसे बीमार हैं। वे कुछ भी कर बैठते हैं। उनसे हम सदा दूर ही रहें।

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥
(ऋग्वेद ७ । ३१ । ५)

हे परमेश्वर! जो मनुष्य कठोर और निन्दनीय वचन बोलते हों, उनसे हम सदैव दूर रहें। कठोरता, रूक्षता, कर्कशता इत्यादि त्रुटियोंसे हमारा कोई सरोकार न हो। हमारे सब कार्य आपको ही समर्पित हों अर्थात् हम सदैव शुभकर्म ही करें।

रूक्षता और कर्कशता आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं। ये उस कठोरताकी प्रतीक हैं जो असभ्य और दानवी प्रकृतिके व्यक्तियोंमें पायी जाती हैं।

आप सरस और प्रेममय रहें। पीड़ित और दुःखितके लिये सदा आपका हृदय खुला रहे।

यो मा पाकेन मनसा
चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आप इव काशिना संगृभीता
असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥
(ऋग्वेद ७ । १०४ । ८)

अर्थात् मिथ्यावादी और असत्य भाषण करनेवाले झूठे व्यक्तिसे दूर रहना ही अच्छा है।

झूठा व्यक्ति जब दूसरोंको धोखा दे सकता है, तो वह आपका कैसे सगा बन सकता है? जीवनके सैकड़ों कार्य हैं, जो झूठके कारण हानिप्रद हो सकते हैं। एक झूठको छिपानेके लिये वह दस नये और अधिक बड़े झूठ बोलता है। इसलिये दो-तीन बार परख करनेके बाद झूठेका सङ्ग त्याग देना ही लाभदायक है।

झूठेका व्यवहार कपटपूर्ण एवं स्वार्थमय होता है। वह स्वार्थसाधनके लिये मित्र तथा सम्बन्धियोंसे भी विश्वासघात कर सकता है। स्वार्थी और कपटीसे सावधान रहें।

> यस्तित्याज सचिविदं सखायं न
> तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
> यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि
> प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
> (ऋग्वेद १०। ७१। ६)

आपको अपनी जीवनयात्रामें ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जो अपने स्वार्थसाधनके लिये किसीसे मित्रता कर लेते हैं। फिर जब उनका अपना काम निकल जाता और स्वार्थ सिद्ध हो जाता है, तो उसे त्याग देते हैं। ऐसे कपटी लोगोंसे एक बार धोखा खाकर सावधान हो जाना चाहिये और फिर कभी उनका विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसे धोखेबाजोंको निन्दा और अपयशका भागी बनना पड़ता है।

स्वार्थी और कपटी मनुष्य हमसे दूर रहें। जो दूसरोंका अहित ही सोचते हैं और जिनसे जीवनके उत्थानकी प्रेरणा नहीं मिलती, वे शुष्क और हृदयहीन हमसे दूर रहें।

आततायीका प्रतिरोध करना चाहिये

जिन दुष्टोंसे देशको हानि होती है और जो अपने क्षुद्र स्वार्थोंके लिये धोखा देनेसे नहीं चूकते, उनसे हम दूर रहें।

मातृभूमिके प्रति विश्वासघात करनेवाले, स्वयं अपने ही बन्धु-बान्धवोंका अपकार करनेवाले मूर्खोंसे हम बचते रहें।

हमारे समाजमें तोड़-फोड़, भेद-भाव, कलह और विद्वेष फैलानेवाले असामाजिक तत्त्व हमारे पास न आयें।

> यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
> तं त्वा सीसेन विध्यामो यथानोऽसो अवीरहा॥
> (अथर्ववेद १। १६। ४)

जो हमारे गाय आदि पशुधनोंको नष्ट करता है, वह दण्डनीय है। अर्थात् जो मानवीय हितोंका अतिक्रमण करे और असामाजिक काम करे, उसका वीरतापूर्वक प्रतिरोध करना चाहिये।

समाजके हितमें ही हम सबका, व्यक्ति और परिवारका हित समाया हुआ है। अतएव समाजविरोधी प्रवृत्तियोंको सदा ही रोकना उचित है। समाजके हर व्यक्तिको शिक्षा, विकास एवं उन्नति करनेका पूर्ण और समान अवसर मिलना चाहिये।

> यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः।
> देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥
> (अथर्ववेद १। १९। ४)

अर्थात् वह समाजकी तोड़-फोड़ करनेवाला, जो हमारे ऊँचे नैतिक हितोंको नष्ट करना चाहता है, उसे हम नष्ट कर दें। दुष्ट पुरुषोंसे सदैव आत्मरक्षा करनी चाहिये। बुरे लोगोंको ठीक पहचान न कर पानेसे ही प्रायः लोगोंका अहित होता है। इसलिये भले-बुरेका विवेक सदैव बनाये रहें।

> व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि।
> आ दुष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम्॥
> (अथर्ववेद ४। ३। ४)

अर्थात् दुष्ट स्वभाववाले हिंसक जन्तुओं-जैसी राक्षसी प्रवृत्तियोंवाले चोर, बदमाशोंको नष्ट करना धर्म है। समाजमें इस प्रकारके लम्पट, चोर, हिंसा, वैर, स्वार्थ-साधनके रोगों और दोषोंका सदैव निवारण करते रहना चाहिये।

हमारे समाजमें मनुष्यके रूपमें अनेक हिंसक पशु और राक्षस चल-फिर रहे हैं। इनकी बाहरी सूरत तो मनुष्यों-जैसी है, पर अंदरसे ये घिनौनी पशुवृत्तिसे भरे हुए हैं। जैसे बिच्छूकी आदत डंक मारनेकी है तथा साँपका काम डँस लेना है, ऐसे ही ये दुष्ट व्यक्ति समाजके लिये हानिकर हैं। हम इनसे सावधान रहें! बचते रहें।

मनुष्योंके हाथों जो असुरता फैल रही है, वह हमसे दूर रहे। भौतिकताकी चकाचौंधमें आध्यात्मिकता भुला न दी जाय। धर्मको व्यावहारिक बनानेकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है। विज्ञान बढ़े, पर मानवीय संस्कार भी कम न हों।

मधुर

अनोखी राधा-माधव-प्रीति।
नहीं बासना तनिक, एक बस,
प्रियतम-सुख-रस-रीति ॥
नहिं भ्रम, नहीं मोह,
नहिं बंधन, नहीं मुक्तिकी चाह।
नहीं पाप, नहिं पुन्य,
पुन्य-रस-सागर भर्‍यौ अथाह ॥
जीवन कौ नहिं हेतु अन्य कछु,
नहिं मरजादा-सेतु ।
फहरि रह्यौ नित अमित
प्रेम को पावन मंगल-केतु ॥
सुद्ध सुभाव अनन्य प्रीति-रस,
नहिं बिभिचारी भाव।
नित्य मिलन में नित्य मिलन को
सुचि सुख, सुचितम चाव ॥
नित्य नवीन बिमल गुन-दरसन,
निरगुन रति निष्काम।
नित नव चित्त-बित्तहर, बाढ़त
सुचि लावन्य ललाम ॥
नहीं भोग, नहिं त्याग,
नहीं कछु राग, नहीं बैराग।
दोउनमें दोउन के सुखहित
छाय रह्यौ अनुराग ॥
दोउ प्रबीन, दोउन के मन की
जानत दोऊ बात।
दोउ सेवत नित, सेवा-हित
नित दोऊ नित ललचात ॥
नित्य एकरस, एकप्रान दोउ,
नित्य एक ही टेक।
नित्य मिलन कौं आतुर,
नित मिलि रहे, न न्यारे नेक ॥

श्रीराधा-माधवका (प्रियतम प्रेमास्पद श्रीभगवान् और प्रेमी भक्तका) प्रेम विलक्षण है। उसमें कहीं भी तनिक भी किसी प्रकारकी कोई वासना नहीं है। वह [illegible] बस, एकमात्र प्रेमास्पदको तथा प्रेमीको सुख प्राप्त [illegible] की रसमयी रीति है। उस पवित्र प्रेममें न कहीं [illegible] या संदेह है, न किसी भी प्रकारका मोह है, न कोई मायाका बन्धन है और न मुक्तिकी चाह है। न वहाँ पाप है न पुण्य है (अपने लिये अपना कोई कर्म ही नहीं है)। वहाँ तो बस, एक पवित्र प्रेमरसका अथाह समुद्र भरा है। (उस अथाह पवित्र प्रेमसागरमें सब कुछ डूबकर पवित्र प्रेमस्वरूप बन गया है।) वहाँ न तो कर्तव्यपालन और अकर्तव्य-त्याग अथवा भुक्ति-मुक्तिरूप जीवनका कोई दूसरा हेतु है और न किसी मर्यादाका सेतु (विधि-विधानका बन्धन) ही है। वहाँ तो बस, अपरिमित पवित्रकारी प्रेमका नित्य निरन्तर मङ्गलमय ध्वज फहरा रहा है। वहाँ शुद्ध सुन्दर भावमय अनन्य प्रेम-रस है, कोई भी व्यभिचारी भाव नहीं है। वहाँ नित्य मिलनका नित्य पवित्र सुख है और उस नित्य मिलनमें ही नित्य मिलनका पवित्रतम चाव (लालसा) है। वहाँ परस्पर नित्य नवीन निर्मल गुण दिखायी देता है, तथापि वह प्रेम नित्य निर्गुण है—गुणरहित, गुणकी अपेक्षासे शून्य है। वह निष्काम है—उसमें किसी प्रकारकी भी कामनाकी लेश-गन्ध-कल्पना नहीं है। उस पवित्र प्रेममें प्रेमास्पदका, प्रेमीका तथा प्रेमका पवित्रतम सौन्दर्य नित्य नया-नया बढ़ता है रहता है, जो परस्पर चित्तरूपी धनका अपहरण करनेवाला है। वहाँ न भोग है और न त्याग है, न किसी प्राणी-पदार्थमें राग है और न किसीमें वैराग्य है वहाँ तो बस, दोनोंमें दोनोंको सुख पहुँचानेके लिये एक पवित्रतम अनुराग छाया है। दोनों ही बड़े चतुर हैं दोनों ही दोनोंके मनकी बात जानते हैं। (दोनोंके मन एक ही हैं।) दोनों ही नित्य दोनोंकी सेवा करते हैं और दोनों ही नित्य सेवाके लिये नित्य ललचाते रहते हैं। दोनों नित्य एक-रस हैं, दोनों नित्य एकप्राण हैं दोनोंकी नित्य एक ही टेक है, दोनों ही नित्य मिलनके लिये आतुर हैं और दोनों ही नित्य मिल रहे हैं—कभी तनिक भी, तनिक-से कालके लिये भी किसी भी भाव न्यारे (पृथक्) नहीं हैं।

अधर्म जो धर्म जान पड़ता है

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा च्छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । १५ । १२)

अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य कोई कार्य धर्म समझकर करना चाहता है; किंतु वह उसके लिये धर्म होता नहीं है । ऐसा भ्रम कहाँ-कहाँ होता है, इसके लिये देवर्षि नारदने अधर्मकी पाँच शाखाएँ बतलायी हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल ।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

अपनी योग्यता, रुचि, सामाजिक परिस्थितिके अनुसार जो अपना धर्माचरण एवं साधनका अधिकार है, उसमें निष्ठा—दृढ़ताका होना ही गुण कहा गया है । उसके अनुसार आचरण ही अपने लिये धर्म है ।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् ।

अपने धर्माचरणमें, अपने साधनमें जो बाधा डालता हो, वह अपने लिये विधर्म है । भले वह आचरण वह साधन बहुत श्रेष्ठ हो, बहुत श्रेष्ठजन उसका आचरण भले करते हों, शास्त्रोंमें भले ही उसकी बहुत प्रशंसा हो; किंतु यदि वह अपने अधिकार-प्राप्त धर्ममें बाधा देता है तो अपने लिये वह अधर्म है ।

उदाहरणके लिये देश-रक्षाके लिये सीमापर नियुक्त सैनिक हैं । उनका धर्म है सतत सावधानीपूर्वक देशकी रक्षा करना और यदि शत्रु आक्रमण करे तो उसपर पूरी शक्तिसे आघात करना । शत्रुने आक्रमण किया और उसी समय कोई शत्रुका गुप्तचर साधुका वेश बनाकर देशके सैनिकोंको उपदेश करे—'अहिंसा परमो धर्मः' तो यद्यपि अहिंसा परम धर्म है, यह बात ठीक है और यह बात भी ठीक है कि अहिंसाकी महिमा संतों तथा शास्त्रोंने बहुत गायी है; किंतु उस समय सैनिकोंके शत्रुपर आघात करने-रूप स्वधर्ममें बाधक होनेके कारण अहिंसा उन सैनिकोंके लिये उस समय विधर्म होनेसे अधर्मकी शाखा है ।

अर्जुन युद्धक्षेत्रमें पहुँचकर जब कहने लगे—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
(गीता १ । ४५)

तब अर्जुनके लिये यह युद्ध-त्यागका भाव 'विधर्म' ही था । इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश करके अर्जुनको उसके वास्तविक कर्तव्यपर स्थिर किया ।

देश, काल, पात्र तथा अवस्थाके अनुसार व्यक्तिके धर्मसम्मत कर्तव्यका निश्चय होता है । इस प्रकार निश्चित हुए कर्तव्यमें जो कोई भी भाव या कार्य बाधक होता हो, वह धर्म जान पड़े, तब भी समझना चाहिये कि यहाँ अधर्म धर्म जान पड़ता है । यह विधर्म है और अधर्मके समान ही त्याज्य है ।

परधर्मोऽन्यचोदितः ।

अपने अधिकारप्राप्त कर्तव्यमें तो कोई बात बाधा नहीं देती और उसका विधान भी शास्त्रमें है । अच्छे सत्पुरुष उसका अनुष्ठान-आचरण भी करते हैं । लेकिन उसका विधान अपनेसे भिन्न अधिकारीके लिये, भिन्न परिस्थितिके लिये किया गया है । ऐसी अवस्थामें भी उसका आचरण अधर्म ही है; क्योंकि वह परधर्म है । जो स्वधर्म नहीं है, वह दूसरेके लिये धर्म हो तो भी अपने लिये अधर्म ही है ।

अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ है तो यज्ञ ही । यज्ञ ब्राह्मणके किसी कर्ममें बाधा नहीं देता । लेकिन इन यज्ञोंको करनेका अधिकार मूर्धाभिषिक्त राजाको ही है । इसलिये कोई ब्राह्मण इन्हें करने लगे तो यह उसके लिये अधर्म होगा । इसी प्रकार बृहस्पतिसव नामक यज्ञका विधान ब्राह्मणके लिये है । कोई क्षत्रिय उसे करे तो यह उसके लिये अधर्म होगा ।

लौकिक उदाहरण लीजिये इस सम्बन्धमें । न्यायाधीशकी अपेक्षा कई वकील कानूनके अच्छे ज्ञाता होते हैं । कोई न्यायाधीश न्यायालयमें किसी दिन अनुपस्थित हो, कोई बड़ा वकील खाली हो, उस दिन उसके पास कोई भी मुक़दमा न हो, ऐसी दशामें वह बिना अधिकारियोंकी अनुमतिके न्यायाधीशकी कुर्सीपर बैठकर उस दिनका न्यायाधीशका कार्य करने लगे तो सरकार उसे पुरस्कार देगी या दण्ड ? वह अपराधी माना जायगा या परोपकारी ? यदि वह पागल ही नहीं सिद्ध हुआ तो अपराधी ही माना ज[illegible]

इसलिये धर्माचरणमें सर्वोपरि महत्ता वि[illegible]

जिसके लिये जिस परिस्थितिमें जो विधान किया गया है, उसके लिये उस परिस्थितिमें वही धर्म है। दूसरेके लिये जो विधान है अथवा अपने लिये ही भिन्न स्थितिके लिये जो विधान है, वह दूसरी स्थितिमें अपनाया जानेपर परधर्म हो जानेके कारण अधर्म हो जाता है।

एक ही व्यक्ति आज गृहस्थ है तो गृहस्थके लिये जो धर्माचरणका विधान है, वह उसका स्वधर्म है। लेकिन कल वह संन्यासी हो जाता है तो गृहस्थ-धर्म उसके लिये परधर्म बन जायगा और संन्यासीके लिये वर्णित धर्माचरण उसके लिये स्वधर्म हो जायगा।

ग्रहण लगा हो तो देवपूजन नहीं करना चाहिये, यह विधान है। ग्रहण लगा हो तो देव-पूजन करना अधर्म होगा; क्योंकि देव-पूजनका विधान भिन्न परिस्थितिके लिये है। लेकिन ग्रहण न लगा हो तो भी उपर्युक्त विधानकी बात करना भी अधर्म ही होगा।

उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा।

उपमा अथवा उपधर्म है पाखण्ड। धर्माचरण करते तो हैं नहीं; किंतु प्रदर्शित ऐसा करते हैं कि बहुत धर्माचरण कर रहे हैं। यहाँ दम्भ तथा पाखण्ड दोनोंका नाम विशेष तात्पर्यसे लिया गया है। धर्माचरणका केवल दिखावा करना, यह पाखण्ड है और धर्माचरण करना किंतु मनमें उसके द्वारा किसी अधर्मेच्छाकी पूर्ति रखना दम्भ है। दम्भ पाप है, यह सर्वविदित है। दम्भी धर्मका दिखावा करता है, इसीसे दम्भको उपमा—धर्मके समान लगनेवाला अधर्म कहा गया है। यह उपधर्म—धर्म न होकर भी धर्मको उपक्रान्त करनेवाला है।

शब्दभिच्छलः।

शास्त्रमें जो आदेश हैं, उनके शब्दोंका ठीक तात्पर्य जानते हुए भी उनका उससे भिन्न अर्थ करके उसके अनुसार आचरण करना धर्मके साथ छल करना है और यह अधर्म है। यह काम सर्वसाधारण प्रायः नहीं करते। जो शास्त्रके विद्वान् पण्डित हैं, वही प्रायः शास्त्रके वचनोंका अन्यथा अर्थ करके अपनी दुर्बलता छिपाने तथा समर्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। जैसे—'**देवं मधु समर्पयेत्**' इसका सीधा सरल अर्थ है कि देवताको शहद चढ़ावे; किंतु कोई आचारहीन सुरापी 'मधु'का अर्थ शराब करे और कहे कि 'इस देवताको सुरा चढ़ती है' तो यह छलरूप अधर्म हुआ।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।

अपने वर्णाश्रम-धर्मसे भिन्न किसी भी आचरणको अपनी इच्छासे अपना लेना आभास—धर्माभास कहा जाता है और धर्माभास भी अधर्म ही है।

मैंने हरद्वारके एक कुम्भमें रोड़ियोंमें एक नंगे व्यक्तिको देखा था। उसने पूरे शरीरमें विष्ठा पोत रक्खी थी और दो पत्थर लेकर बजा रहा था। वह दूसरोंको भी जनेऊ उतारकर ऐसा ही करनेका उपदेश कर रहा था। पुलिस बुलाकर उसे मेलाक्षेत्रसे हटाना पड़ा। कलियुगके प्रभावसे आज-कल बहुत-से धर्माभास चल पड़े हैं। मनमाना आचरण धर्म नहीं है। शास्त्रविहित कर्मका नाम ही 'धर्म' है। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये।

यहाँ उदाहरणके लिये कुछ थोड़ी बातें ऐसी दी जा रही हैं जो धर्म समझकर की जाती हैं; किंतु अधर्म हैं।

स्त्रियाँ पति-परिवारको त्यागकर साधुओंके आश्रममें बिना अभिभावकके रहें और भजन-साधनका प्रयत्न करें, यह अधर्म ही है।

पतिकी सेवा-श्रद्धा त्यागकर, उसकी अवमानना करके किसी गुरुकी सेवा स्त्री करे तथा पतिसे पूछे बिना, उसकी अनुमतिके बिना, पतिसे छिपाकर या पतिको रुष्ट करके गुरुको धन या अन्य पदार्थ स्त्री भेंट करे, तो यह अधर्म है।

छोटे बच्चोंको, अवयस्क युवकोंको साधु-दीक्षा देना अधर्म है।

बिना ही वैराग्यके माता-पिता तथा परिवारकी सेवा त्यागकर आरामके लिये साधु बनकर कहीं किसी आश्रममें जा बसना अधर्म है।

भगवद्भजनमें चित्त न लगता हो और सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा हो तो उसे पूर्ण करनेके लिये साधु-वेश धारण करना अधर्म है।

साधु, संत, महोपदेशक समझकर श्रद्धालुजन जो धन देते हैं, उसे अपना स्वत्व मानकर देहके सुखोपभोगमें व्यय करना अधर्म है।

—सु

पुराणोक्त धर्म

(लेखक—प्रो० डा० श्रीबालकृष्ण मोरेश्वर कानिटकर, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, एल्-एल्० बी०)

किसी भी समाजकी उन्नति और सामाजिक स्वास्थ्य, उस समाजकी धर्मभावना और श्रद्धाके ऊपर अवलम्बित रहता है। धिन्वनात् धर्मः। शान्तिका कारण धर्म होता है। यही धर्मका लक्षण माना गया है। महाभारतमें भगवान् वेदव्यासने कहा है—

> श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका सार-सर्वस्व सुनना चाहिये और सुनकर मनमें धारण करना चाहिये। जो-जो बातें अपनेको न जँचें—प्रतिकूल जान पड़ें, उनका आचरण हमें दूसरोंके प्रति नहीं करना चाहिये।' यही सच्चा धर्म है।

इस धर्मके आचरणका प्रमाण स्मृतिने निम्नलिखित रीतिसे दिया है—

> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

कोई बात धर्मके अनुकूल है या विरुद्ध—इसकी परीक्षा चार प्रमाणोंद्वारा की जाती है। श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने मनके, सदसद्विवेक-बुद्धिके पटने योग्य बातको धर्मानुकूल मानते हैं। कविकुलगुरु कालिदासकी शकुन्तलामें दुष्यन्तके मुँहसे ये शब्द निकले थे—

> सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

इसका अर्थ इस प्रकार है। हम अपने नित्य संकल्पमें कहते हैं—'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तसकलफलप्राप्त्यर्थं' इत्यादि। इस स्थलमें पुराणोक्त फल देनेवाले पुराणोक्त धर्म कौन-से हैं, यह संक्षेपमें विचारणीय है।

'धारणाद्धर्ममित्याहुः', 'धर्मो रक्षति रक्षितः', 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा', 'आचारप्रभवो धर्मः'—इत्यादि वचन सुप्रसिद्ध हैं। पुराणोंमें जो श्रेष्ठ आचार वर्णित है, उसे देखनेपर पुराणोक्त धर्म क्या है, यह सहज ही ज्ञात हो जाता है। प्रातःकाल शय्यासे उठनेके बाद रात्रिमें पुनः शयन करनेतक सबके आचरणीय आचार पुराणोंमें वर्णित हैं।

शयन-त्याग, करवन्दना, पृथ्वी-वन्दना, ईश-स्मरण, स्नान, संध्या, आसन, प्राणायाम, जप, देवपूजा, नाम-संकीर्तन, वैश्वदेव, गोग्रास, अतिथि-पूजन, काकबलि, भोजन, ईश-चिन्तन, ईश-दर्शन, सायं प्रार्थना, शयन आदि नित्य-आचार पुराणोंमें कथित होनेके साथ-साथ तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, दान, श्राद्धकर्म, परोपकार, इष्ट और पूर्त-कर्म आदि नैमित्तिक आचार बतलाये गये हैं। गो-सेवा, गो-पूजन, तुलसी-पूजा, अश्वत्थ-पूजा, प्रतिमा-पूजा, यन्त्र-पूजा, देवोत्सव आदिका समावेश भी पुराणोक्त धर्ममें है। माता-पिताकी सेवा, स्त्रीके लिये पति-सेवा और गुरुपूजाका पुराणोक्त धर्मोंमें विशेष और निराला स्थान है।

आचार-धर्मके विषयमें भविष्यपुराणकार कहते हैं—

> आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः।
> आचाराद् वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥

इसका अनुसरण करके हम शयन-त्याग करते ही भूमिकी, लक्ष्मीकी, सरस्वतीकी, जगन्नियन्ताकी भक्तिपूर्वक वन्दना करते हैं।

> कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
> करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम्॥

मनकी शुद्धिके लिये पहले शरीरकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। मलमूत्र-विसर्जन कर्मके आचारको बतलाते हुए कूर्मपुराण कहता है—

> निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः।
> प्रावृत्य तु शिरः कुर्याद् विण्मूत्रस्य विसर्जनम्॥

दाहिने कानपर यज्ञोपवीत रखकर और सिरको वस्त्रसे ढककर मल-मूत्र-विसर्जन करे।

दन्तधावनके लिये दातौन कैसे हों?—यह कूर्मपुराणमें कथित है, तथापि दन्तधावनके महत्त्व और उसकी आवश्यकता वराहपुराणमें इस प्रकार दी गयी है—

> दन्तकाष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति।
> सर्वकालकृतं कर्म तेन चैकेन नश्यति॥

दातौन बिना किये जो पूजा-अर्चनाके लिये मेरे पास आता है, उसके सब दिनके किये कर्म निष्फल हो जाते हैं।

शयन-त्याग करनेपर पृथ्वीको प्रणाम करते हैं—

> समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्ड[illegible]
> विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षम[illegible]

समुद्ररूपी वस्त्र और पर्वतरूपी स्तन धारण करनेवाली हे विष्णुपत्नि! पृथ्वीदेवि! (मैं दिनभर तुम्हारे ऊपर चलनेवाला हूँ) तुम मेरे पाद-स्पर्शको क्षमा करो।

इसके उपरान्त स्नानका विचार स्कन्दपुराणके मतसे इस प्रकार है—

उदयात्प्राक् चतस्रस्तु घटिका अरुणोदयः।
तत्र स्नानं प्रशस्यं स्यात् स वै पुण्यतमः स्मृतः॥

सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व अरुणोदयके समय स्नान करना अत्यन्त प्रशस्त और पुण्यप्रद होता है।

यह स्नान शीतल जलसे करना अतिशय हितप्रद है। परंतु यह सदा सबको मिलना सम्भव नहीं है। अतः स्नानमें काम्यस्नान और नित्यस्नान—ये दो भेद माननेपर काम्य अथवा नैमित्तिक स्नान ठंडे पानीसे ही करना चाहिये। नित्य स्नान शीतल अथवा उष्ण जलसे अपने इच्छानुसार कर सकते हैं। कूर्मपुराणमें लिखा है कि प्रातःस्नानसे पापी मनुष्य भी पवित्र हो जाता है।

केवल एक वस्त्र धारण करके आहार और देवार्चन न करे। सदा श्वेत वस्त्र धारण करे। रंगीन वस्त्र न पहने। जिस वस्त्रसे मल-मूत्र त्याग किया जाता है, वह अपवित्र हो जाता है। स्त्रीप्रसङ्गसे वस्त्र दूषित हो जाता है। ऐसे वस्त्र पानीसे धो लेनेपर शुद्ध होते हैं।

तदनन्तर तिलक-धारण, भस्म-लेपन आदि क्रिया करे, ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। स्कन्दपुराणके ब्रह्मोत्तरखण्ड-में भस्मधारण करनेका माहात्म्य अनेक प्रकारसे वर्णित है। शिवपुराणमें भी भस्मधारणका माहात्म्य आया है। बृहज्जाबालोपनिषद्में यह श्लोक आया है—

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना धृतम्॥

जिस ब्राह्मणने मस्तकपर भस्मसे त्रिपुण्ड्र धारण किया है, उसने सर्वशास्त्रोंका अध्ययन तथा श्रवण कर लिया; क्योंकि—

भासते भिन्नभावानामपि भेदो न भस्मनि।
स्वस्वभावस्वभावेन भस्म भर्गस्य वल्लभम्॥

विविध प्रकारकी वस्तुएँ भस्मीभूत होनेपर एक स्वरूप [illegible]ती हैं। इस कारण सब वस्तुओंकी एकरूपता [illegible] होनेपर प्रतिपादित होती है। इसलिये यह शिव-[illegible]है। इतना ही नहीं, बल्कि—

ये भस्मधारणं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति मानवाः।
तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः॥

जो मनुष्य भस्म धारण किये विना कर्म करता है, उसको कोटि जन्मतक संसारसे छुटकारा नहीं होता। इसी प्रकार तिलकधारणका महत्त्व अनेक पुराणोंमें वर्णित है। पद्मपुराण कहता है—

यज्ञो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं बिना कृतम्॥

ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किये विना किया हुआ यज्ञ, दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, किया हुआ होम, किया हुआ वेदाध्ययन, पितृतर्पण आदि सारी क्रिया निष्फल हो जाती है।

और गरुडपुराणमें कहा है—

नित्यं ललाटे हरियन्त्रसंयुतो
यमं न पश्येद् यदि पापसंवृतः॥

नित्य गोपीचन्दनका तिलक ललाटपर करनेवाला पुरुष यदि पापी भी हो तो भी यमराज उसके पास नहीं जाता।

रुद्राक्ष और तुलसीमाला धारण करनेके विषयमें इस प्रकारके वचन पुराणोंमें हैं। शिवपुराण, विद्येश्वरसंहितामें और स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें रुद्राक्ष-धारणकी विधि दी हुई है तथा नारदपुराण (बृहन्नारदीय, स्कन्दपुराण) आदिमें तुलसीमाला धारण करनेका विचार है।

इसके अतिरिक्त सब पुराणोंमें प्रायः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदिकी रीति और महत्त्व वर्णित है। प्राणायाम करके जप करने अथवा पूजा करके जप करनेके वचन मिलते हैं।

देवपूजन-विधि और आचारसम्बन्धी विभिन्न देवताओंकी विशेष विधियाँ सब पुराणोंमें आयी हैं। उनमें स्कन्दपुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, नारदपुराण, ब्रह्मपुराण, वामनपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें ये विधियाँ विशेषरूपसे कही गयी हैं। आरती, धूप-दीप, नैवेद्य, मन्त्र-पुष्प आदि सब प्रकारके पूजा-पर्याय सब ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। पूजाकी समाप्तिके समयका यह सुप्रसिद्ध श्लोक श्रीमद्भागवतमें है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा०। इत्यादि।

तीर्थयात्रा, क्षेत्रमहिमा, व्रत, एकादशी, शिवरात्रि, वैशाखमाहात्म्य, कार्तिकमाहात्म्य, माघमाहात्म्य आदि विषय

तो पुराणोंमें हैं ही । गोसेवा, गोपूजन, गोमाहात्म्य—स्कन्द, पद्म, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणोंमें आये हैं ।

> गां च स्पृशति यो नित्यं स्नातो भवति नित्यशः ।
> सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वतीर्थमयी हि गौः ॥

—इस अर्थके श्लोक सर्वत्र मिलते हैं ।

> गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च ।
> गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत् ॥

ऐसा स्कन्दपुराण कहता है—गोमूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये गायसे प्राप्त होनेवाली पाँच पवित्र वस्तुएँ हैं, ये सर्व जगत्को पावन करती हैं ।

श्राद्ध भी भारतीय धर्माचरणका एक आधार है। पितृपूजा हमारा मुख्य धर्म है । इसके विषयमें सारे पुराणोंमें विवेचना की गयी है । माता-पिताका पूर्ण आदर-सत्कार करना हमारे पुराण सिखलाते हैं । गुरु और देवताकी अपेक्षा माता-पिताको पुराणोंने श्रेष्ठ माना है; क्योंकि वे स्वयं बालकके गुरु और देवता हैं । इसी प्रकार स्त्रियोंका पति देवता है । पति ही उनका गुरु है । पतिसेवा ही उनका धर्मकृत्य और पातिव्रत्य है । यही पुराणोंकी शिक्षा है ।

गूलर और वट आदि वृक्षोंके विषयमें भी ऐसी ही धर्मभावना है । मत्स्यपुराणमें लिखा है—

> दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः ।
> दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः ॥

एक वापी खुदानेमें दस कुएँ खुदानेका पुण्य होता है । एक तालाब खुदवानेमें दस वापी खुदवानेका पुण्य होता है । दस तालाब खुदवानेका पुण्य एक पुत्र प्राप्त करनेपर होता है और दस पुत्र प्राप्त करनेका पुण्य एक वृक्ष लगानेपर होता है ।

पुत्रवान्को स्वर्गकी प्राप्ति होती है और पुत्रहीन अधोगतिको प्राप्त होता है, ऐसा हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं; क्योंकि उसके बिना पितरोंको तृप्त कौन करेगा ! पितरोंकी तृप्ति ही मानव-जीवनकी सार्थकता है । इसके लिये स्कन्दपुराणमें सात प्रकारके पुत्रोंका वर्णन है । उसमें वृक्षकी गणना भी पुत्रोंमें की गयी है ।

> कूपस्तडागमुद्यानं मण्डपं च प्रपा तथा ।
> जलदानमन्नदानमश्वत्थारोपणं तथा ।
> पुत्रश्चेति च संतानं सप्त वेदविदो विदुः ॥

कूप-तडाग, बाग-बगीचा, आराम-मण्डप, पनसला, जलदान, अन्नदान और पीपल रोपना और पुत्र—ये सात संतान वेदज्ञ लोग बतलाते हैं । हम भारतीयोंका परम धर्म है परमेश्वर-पदकी प्राप्ति—उस मूलशक्तिके साथ एकरूप होना । इसके लिये समस्त प्राणिजात तथा समस्त वस्तुओंको समत्व-बुद्धिसे देखना मुख्य साधन है । भागवतकार लिखते हैं—

> सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

जो सब प्राणी और पदार्थको आत्मस्वरूप तथा भगवान्में निवास करता हुआ मानता है, वही भागवतोत्तम है । स्कन्दपुराणमें नारदजी धर्मवर्मा राजासे कहते हैं—हे राजा !

> श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ।
> सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि ॥
> नाप्नुयात्स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत् ।
> श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः ॥

यदि कोई श्रद्धाके बिना अपना सर्वस्व, यहाँतक कि अपना प्राण भी दे दे तो उस दानका फल उसे नहीं मिलेगा । अतएव सबसे पहले श्रद्धा रखनेकी शिक्षा लेनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धासे ही धर्म सिद्ध होते हैं, महती धनराशिसे धर्मकी सिद्धि नहीं होती । नारदपुराणमें यह श्लोक आया है—

> श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः ।
> श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः ॥

श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे सब धर्म सिद्ध होते हैं, श्रद्धा इच्छित फल प्रदान करती है । श्रद्धासे सब कुछ सिद्ध हो जाता है, और क्या, श्रद्धासे भगवान् श्रीहरि संतुष्ट हो जाते हैं ।

> श्रद्धावाँल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात् ।
> श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान्मोक्षमाप्नुयात् ॥

श्रद्धासे पुरुषको धर्मकी प्राप्ति होती है, उसको धन मिलता है, श्रद्धासे मनोवाञ्छित फल मिलता है और तो क्या, श्रद्धासे मोक्षतक मिल जाता है । और श्रद्धासे ही भक्ति उत्पन्न होती है । हमारे लिये ईश्वरके चरणोंमें भक्ति दृढ़ होना बड़े भाग्यकी बात है; क्योंकि भक्तिसे ही श्रेष्ठतम कल्याण प्राप्त होता है । श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् मुचुकुन्दसे कहते हैं—

> युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः [illegible]
> अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम् [illegible]

भक्तिके बिना वासनाका नाश नहीं होता, अतएव शान्ति नहीं मिलती अर्थात् परम कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। आत्यन्तिक भक्तिके द्वारा भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है। ऐसा महामुनि कपिल भागवतमें कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

भगवान्‌का नाम-संकीर्तन भक्तियोगके आचारका एक भाग है; क्योंकि कलियुगमें जीवोंके उद्धारका यही एक मार्ग खुला हुआ है। इस नाम-संकीर्तन-युक्त भक्तिधर्मके आचरणके लिये मत्स्यपुराण इस प्रकार कहता है—

परांश्च सिद्धांश्च परं च देवं परं च मन्त्रं परमं हविश्च।
परं च धर्मं परमं च विश्वं त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

ब्रह्माजी नृसिंह भगवान्‌से कहते हैं—'परम श्रेष्ठ सिद्ध पुरुष, परम देव—देवता, सर्वश्रेष्ठतम मन्त्र, आहुतिके पदार्थ, सर्वश्रेष्ठ धर्म और सर्वविश्व—हे पुराण-पुरुषोत्तम! सब कुछ तुम ही कहलाते हो।

इस प्रकार पुराणोंमें आदर्श सनातन वैदिक धर्मका ही रूप स्थित होकर बढ़ा है और शाश्वत स्वरूपमें प्रसरित हुआ है।

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री)

गत वर्ष सं० १०, पृष्ठ १२५६ पर प्रकाशित लेखमें मैंने पूर्णस्वर और रिक्तस्वरका उल्लेख किया है। यहाँपर पूर्णस्वर और रिक्तस्वरका निर्णय करना आवश्यक है। पूर्णस्वर चन्द्रस्वरके साथ सम्पन्न होता है। चन्द्रस्वरकी गतिपर ही पूर्णस्वर और चन्द्रस्वर बनते हैं। इसी प्रकार सूर्यस्वरमें भी पूर्णस्वर और रिक्तस्वर बना करते हैं। शिवस्वरमें पूर्ण और रिक्त दोनों स्वरोंका अभाव होता है।

पूर्णस्वर—चन्द्रस्वरका वेग जब सामने, बाँयें और ऊर्ध्वाकार होता है तब पूर्णस्वरकी निष्पत्ति होती है। पूर्णस्वरकी निष्पत्तिमें ही चन्द्रस्वर स्वभावतः सामने, बायें और ऊपरकी ओर गतिमान् होता है। इनके अलावा अन्य गतियोंमें चन्द्रस्वरका प्रवाह रिक्तस्वरका निर्माण करता है। इसी प्रकार सूर्यस्वरका प्रवाह दाहिने, नीचे अथवा चक्करदार पीछेकी ओर मुड़ता हुआ पूर्णस्वरकी निष्पत्ति करता है। इनके अलावा सूर्यस्वरके विभिन्न प्रवाह रिक्तस्वर कहे जाते हैं। पूर्णस्वरमें प्रारम्भ किया गया कोई भी काम पूर्णताको प्राप्त होता है; किंतु रिक्तस्वरमें किया गया कार्यारम्भ कभी भी पूर्णताको नहीं प्राप्त होता और उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

इस तरह कार्यारम्भमें पूर्णस्वरका विचार करना परमावश्यक है। रिक्तस्वरमें किसी कार्यका विचार करना अपूर्णताका द्योतक है, चाहे वह शुभस्वरमें ही क्यों न प्रारम्भ [illegible]जाय। कार्यसिद्धिके लिये कभी-कभी प्रश्नकर्ता भी [illegible]ज्ञासा प्रकट करता है। यदि प्रश्नकर्ता जिज्ञासाकी [illegible]वालेके स्वरप्रवाहकी ओरसे प्रश्न करता है तो प्रश्नकर्ताके सभी कार्य सिद्ध होते हैं और यदि बंद स्वरकी ओरसे प्रश्न किया जाता है तो कभी भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। यदि दोनों स्वरोंके प्रवाहमें सम्मुख होकर कोई प्रश्न कार्यकी सिद्धिके लिये करता है तो कार्यकी पूर्णताकी आशा बँधती है, किंतु पूर्णता नहीं प्राप्त होती। जिज्ञासाकी पूर्ति करनेवालेका यदि पूर्णस्वर चलता हो और उस समय कोई कार्यसिद्धिका प्रश्न करता है तो प्रश्नकर्ताका कार्य सिद्ध होता है और इसके विपरीत कार्यका प्रारम्भ अनिष्टकारी होता है। इस तरह प्रश्नका विषय दो रूपोंमें स्पष्ट होता है। एक तो स्वाभाविक स्वरप्रवाहमें और एक पूर्णस्वर अथवा रिक्तस्वरके रूपमें; किंतु परीक्षकको यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वाभाविक स्वरप्रवाह भी या तो पूर्णस्वरमें होगा या रिक्तस्वरमें। जिनको पूर्णस्वर और रिक्तस्वरका ज्ञान नहीं है, उनको प्रश्नका समाधान स्वाभाविक स्वरप्रवाहके माध्यमसे ही करना चाहिये। अभ्यास परिपक्व हो जानेसे पूर्ण और रिक्तस्वरका ज्ञान सहज ही हो जाता है।

अपने पूर्व स्वरोदयकी महत्ताके भूमिका-लेखमें मैंने लिखा था कि साधारणतः शरीरके बाहर वायुका प्रवाह बारह अंगुल होता है। इस प्रवाहकी साधना ही महान् है। योगीजन इस प्रवाहपर ही अभ्यास करते थे और जैसे-ही-जैसे अभ्यासकी गति अनुशासित हो जाती थी, उन्हें सिद्धि प्राप्त हो जाती थी। बाह्य स्वरप्रवाहकी गति संतुलित रखनेमें बहुत बड़े अभ्यास और योग्य गुरुकी आवश्यकता होती है। बिना गुरुके इसमें पारंगत होना सबसे कठिन और दुष्कर है। यह विषय लिखकर नहीं समझाया जा सकता; प्रत्युत

योग्य गुरुके आभ्यासिक शिक्षणसे ही इसकी पुष्टि होती है। इसमें स्वरप्रवाहपर पूर्ण विजय प्राप्त करनी होती है। स्वर-प्रवाहमें विजय प्राप्त करना साधारण गृह-कार्यमें रत प्राणियोंकी शक्तिसे परे है। इसका अभ्यास योगियों एवं गृह-कार्यसे विरक्त पुरुषोंके द्वारा ही सम्भव है। यदि स्वरप्रवाहपर नियन्त्रण किया जा सका तो उसे संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

निष्कामताके लिये स्वरप्रवाह एक अंगुल कम यानी ग्यारह अंगुल होना चाहिये। बारह अंगुलसे जिसने अपना स्वरप्रवाह अभ्यासद्वारा ग्यारह अंगुल कर लिया है उसे निष्कामताकी सिद्धि होती है। काम और वासनापर विजय पानेके लिये साधारण स्वरप्रवाह ग्यारह अंगुल होना चाहिये। सर्वथा आनन्दमय बन जानेके लिये स्वरप्रवाह स्वाभाविक स्वरप्रवाहसे दो अंगुल कम यानी दस अंगुल मात्र होना आवश्यक है। जिस किसीने अभ्याससे अपने साधारण स्वरको दस अंगुलमें ही नियन्त्रित कर दिया है; उसे संसार आनन्दमय हो जाता है। उसे सांसारिकताके दुःख-दैन्यका किञ्चिन्मात्र भी अनुभव नहीं होता और न उसपर मायावी जगत्‌का प्रभाव ही पड़ता है। माया ही तो दुःख और दैन्यका प्रधान साधन है। साधारण स्वरप्रवाहको तीन अंगुल कम करनेपर अर्थात् साधारण स्वरका नियन्त्रण नौ अंगुल हो जानेपर सभी कार्योंकी सिद्धि अपनी इच्छा मात्रसे हो जाती है। स्वर-साधक एक स्थानपर बैठा हुआ अपनी इच्छाओंकी पूर्तिको साकार रूप दे देता है। ऐसे स्वर-नियन्त्रणका अभ्यासी संसारमें कभी भी निरुत्साहित अथवा अपने मनोरथोंकी सिद्धिमें असफल नहीं होता।

साधारण स्वर-प्रवाहको चार अंगुल कम करनेपर अर्थात् आठ अंगुलका स्वरप्रवाही वाणीका सिद्धिदाता हो जाता है। जो भी वह बोलता है, सत्य और सिद्धिका पोषक होता है। ऐसा अभ्यासी बहुत कम बोलता है और जो बोलता है, प्रत्यक्ष फलदाता होता है। उसकी वाणी असत्यमें कभी परिवर्तित नहीं होती। स्वरप्रवाह पाँच अंगुल कम करनेपर यानी जब स्वर-साधकका स्वर बाहर केवल सात ही अंगुल प्रवाहित होता है तब वह एकान्तमें बैठा हुआ भी विभिन्न स्थानोंमें होनेवाले दृश्योंको प्रत्यक्ष देखनेवाला हो जाता है। दूर-से-दूर स्थानोंका वह प्रत्यक्षदर्शी बन जाता है। उसे कहीं आने-जानेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उसकी इच्छामात्रसे सभी दृश्य उसके सम्मुख आ जाते हैं। हिमालयकी अज्ञात गुफामें बैठा हुआ वह स्वरका अभ्यासी इंगलैंड और अमेरिकामें होनेवाले दृश्योंको प्रत्यक्ष देख सकता है।

साधारण स्वर-प्रवाहको छः अंगुल कम करनेपर अर्थात् साधारण स्वर-प्रवाह छः अंगुल नियन्त्रित हो जानेपर स्वर-साधकको आकाशगामी बना देता है। महावीर हनुमान्‌को वायुपुत्र इसीलिये कहा गया है कि वे स्वरोदयके पूर्ण ज्ञाता थे। वाल्मीकीय रामायणमें उनके आकाशमार्गद्वारा जानेका जो वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि वे इसी स्वर-प्रवाहके अभ्याससे आकाशमें उड़ सके थे। महावीर हनुमान् स्वरोदयके पूर्ण ज्ञाता थे और उन्होंने स्वर-साधनाकी शक्तिसे जो भी कार्य किया था, वह आज भी आश्चर्यजनक कहा जाता है। हनुमान्‌जीकी सभी स्वर-साधना सुलभ थी और यही कारण था कि संसार आज भी उनकी शक्तिका पूजक बना हुआ है।

सात अंगुल स्वर-प्रवाह कम करनेवाला शीघ्रगामी हो जाता है अर्थात् जिसका साधारण स्वरप्रवाह पाँच अंगुल नियन्त्रित हो जाता है वह इच्छामात्रसे कहीं भी आ-जा सकता है। वह दुर्गम स्थानोंतकमें पूर्ण वेगसे गतिमान् होता है। उसे किसी यानकी आवश्यकता नहीं होती। यह एक देव-शक्ति है जो किसी भाग्यवान्‌को ही प्राप्त होती है और वह भी योग्य गुरुके सहयोग और अभ्याससे। आठ अंगुल स्वर-प्रवाह कम करनेपर अर्थात् साधारण स्वरप्रवाह चार अंगुल करनेपर अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा नौ अंगुल स्वर-प्रवाह कम करनेपर यानी साधारण स्वर-प्रवाहकी गति तीन अंगुल नियन्त्रित होनेपर नौ निधिकी प्राप्ति होती है। महात्मा भरद्वाज इन दोनों स्वर-प्रवाहोंके पूर्ण ज्ञाता थे और इन्हींके बलपर उन्होंने भरतका राजसी सत्कार किया था।

स्वर-प्रवाह दस अंगुल नियन्त्रित करनेपर अर्थात् जब साधारण स्वर-प्रवाह केवल दो अंगुल ही बाह्य प्रगति करता है तब प्राणी सांसारिकतासे उठकर ब्रह्मकोटितक पहुँच जाता है। उसे कोई भी दैवीशक्ति अप्रभावित नहीं कर सकती। वह देवतुल्य हो जाता है। उसका जीवन-मरण उसकी इच्छापर निर्भर हो जाता है। ग्यारह अंगुल स्वर-प्रवाह रोकनेपर अर्थात् जब स्वर-प्रवाह केवल एक ही अंगुल बाह्य प्रगति करता है, तब स्वरोदयका नियन्त्रक छायारहित हो जाता है। भौतिक शरीर रहते हुए भी अदृश्य हो जाता है। उसकी ग[illegible] हो जाती है। वह इच्छानुसार कहीं भी प्रगति कर [illegible]

आकाश-पातालका भी वह भ्रामक बन जाता है। ऐसी गति किसीको प्राप्त हुई है, इसके उदाहरण नहीं हैं सिवा वीर हनुमान्‌के। इसके आगे केवल अंदर-ही-अंदर स्वर-प्रवाह हो अर्थात् स्वर-प्रवाह केवल अन्तरात्मामें ही हो, यह दुर्लभ गति है। इस गतिवाला केवल ब्रह्म होता है। साँस लेता हुआ भी साँस न लेनेके समान होता है। 'सोऽहं ब्रह्म' ऐसी संज्ञा हो जाती है। वही ब्रह्म है, वही सृष्टि-कर्ता और संहारक होता है। इस तरह वायुप्रवाहका निरोध और उसका अभ्यास विश्वकी दुर्लभ प्रगति है। इसका अभ्यास श्रेष्ठ गुरुकी महान् कृपापर निर्भर है।

स्वर-प्रवाहका संस्थापन और उसकी क्रमिक अवरोध गति महान् आश्चर्यजनक है। यह तभी सम्भव है जब स्वरोदयमें ही अपने जीवनको समर्पित कर दे। लौकिकताका प्रकरण केवल कुछ ही अभ्यासोंपर आधारित है; किंतु उसकी परिपक्वावस्था महान् कौतूहलजनक है। जो केवल स्वरोदयके थोड़े ही अभ्यास या लेखोंपर आधारित सिद्धान्तोंका आश्रय लेकर लाभान्वित होना चाहते हैं। यह केवल उनकी मृगतृष्णा है। यह निर्विवाद है कि स्वरोदयका साध्य अभ्यास भी महान् फलदायी होता है। मेरे पास स्वरोदयकी महत्तापर पाँच सौसे ऊपर ऐसे पत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें कुछोंको छोड़कर बहुतोंने इसे केवल जादू ही माना है और केवल कुछ ही अभ्याससे वे अपनी सारी कल्पनाएँ साकार कर लेना चाहते हैं। मुझे भी उपर्युक्त स्वरोदयके नियन्त्रण-का आभ्यास नहीं है और वह इसलिये कि इस विषयका आजतक कोई योग्य गुरु मिला ही नहीं; हाँ, इस सम्बन्धकी जानकारी अवश्य है।

स्वर-प्रवाहका यह नियन्त्रण ही प्राणविधि है और इसीपर सारा संसार आधारित है। आजके युगमें यह प्राण-विधि अभ्याससे परे-सी हो गयी है; किंतु कभी इसका अस्तित्व और अभ्यास था, जिसके उदाहरण हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं और अज्ञानवश हम उन्हें कल्पनात्मक मान लेते हैं। अभ्यासार्थीके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

जीवनमें चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर और शिवस्वर ही प्रधान हैं। इन्हींके अभ्याससे जीवनकी सिद्धि होती है। जैसा कि लेखमें लिखा जा चुका है कि प्रातःकालका चन्द्रस्वर [illegible]कालका सूर्यस्वर माना गया है। कभी-कभी इसमें अन्तर पड़ जाता है और विषमता आ जाती है। यदि जान-बूझकर स्वर-प्रवाह न बदला जा सके तो मध्याह्नकालमें तथा आधी रातके बाद ये स्वर अपनेहीसे सुव्यवस्थित हो जाते हैं। यह है स्वरकी स्वाभाविक साधना।

स्वर-प्रवाहके आधारपर प्राचीनकालमें युद्धका एक विशेष प्रकरण माना जाता था; किंतु आजके विज्ञान-युद्धकी समकक्षतामें इस प्रकरणका कोई महत्त्व नहीं है। अस्तु, इस विषयपर लिखना भी व्यर्थ ही है। प्राचीनकालमें युद्धके प्रकरण आजकलकी तरह न थे। युद्ध-प्रस्थान आदिके समय स्वर-प्रवाहका प्रमुख स्थान था और इसीके आधारपर जय-पराजयकी व्यवस्था निर्भर थी, किंतु आजके विज्ञान-युगमें स्वर-प्रवाहकी यह गणना सर्वथा हास्यास्पद ही होगी। इसीलिये इस विषयपर कुछ लिखना भी ठीक नहीं है।

चन्द्र और सूर्यस्वर दोनोंकी संज्ञा जीवस्वर है। जो प्राणी दिनभर प्राणवायुके माध्यमसे सूर्यस्वरका अवरोध करता है और सूर्यास्तके पश्चात् उसे छोड़ता है, वह दीर्घजीवी होता है। लगातार रात्रिमें चन्द्रस्वर तथा दिनमें सूर्यस्वरका अवरोधक योगी होता है। जिस किसीका एक ही स्वर बिना परिवर्तनके चौबीसों घंटेतक चलता रहता है, उसके जीवनकी अवधि केवल तीन वर्ष होती है। जिसका सूर्यस्वर लगातार अड़तालीस घंटेतक चलता रहता है, उसकी आयु दो वर्षकी होती है। कोई भी स्वर अगर लगातार बहत्तर घंटेतक बिना परिवर्तनके चलता रहता है, वह केवल एक वर्षतक ही जीवित रहता है। दिनमें सूर्यस्वर और रातमें चन्द्रस्वरका प्रवाहक छः महीनेकी आयुवाला होता है। लगातार सोलह दिनोंतक सूर्यस्वरका प्रवाहक एक महीनेके अंदर मृत्युको प्राप्त होता है। इसी प्रकार लगातार चन्द्रस्वरका प्रवाहक भी एक ही महीने जीता है। इसलिये स्वर-परिवर्तन आवश्यक होता है और उसके प्रयोग एवं अभ्याससे मृत्युसे रक्षा भी होती है।

रोगीका संदेशवाहक यदि लाल, जोगिया (भगवा) अथवा काला वस्त्रधारी हो, टूटे दाँतवाला हो, सिर बिन बालके हो, तेल लगाये हो, रस्सी या डोरी साथमें लिये हो भिखारी हो अथवा अन्य कोई अपशकुनवाली चीजें लि[ये] हो तो उसे देखते ही स्वरज्ञानका परीक्षक रोगीके मृत्यु[के] संकेत समझ ले और यदि कहीं संदेशवाहक स्वरज्ञानके परीक्ष[क]के शून्य अङ्ग (नाकके जिस छिद्रसे स्वर-प्रवाह न होता हो

की ओर स्थित होकर रोगीके विषयमें प्रश्न करे तो समझना चाहिये कि रोगी तभीतक जिंदा रह सकता है जबतक कि संदेशवाहक लौटकर नहीं जाता ।

इस तरह स्वर-ज्ञानसे अनेकानेक गूढ़ विषयोंकी जानकारी होती है । स्वर-ज्ञानके साथ-साथ तत्त्वज्ञान भी आवश्यक है । तत्त्वज्ञानके बिना स्वरज्ञानकी पूर्णता नहीं होती । ऐसे बहुत-से विषय हैं जो तत्त्वज्ञानके साथ मिलकर स्वरज्ञानकी पूर्णता करते हैं । स्वरप्रवाहमें ही तत्त्वोंका विश्लेषण होता है ।

शम-सम्पन्न (शान्त)

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शमो मन्निष्ठता बुद्धेः ।

आज जब अणु-शक्तिचालित यान समुद्रके वक्ष और उसके अन्तरालको चीरते अबाध गतिसे चल रहे हैं, उस समयकी स्थितिकी कल्पना भी कठिन है, जब वाष्पचालित एञ्जिनका आविष्कार नहीं हुआ था । समुद्री यान तब भी थे और वे सुदूर देशोंकी यात्राएँ करते थे । उन्हें कहा तो जहाज ही जाता था; किंतु वे बहुत विशाल नौकाएँ होती थीं, जो अनेक-अनेक पाल तान कर चलती थीं ।

'क्या आप मुझे शाकद्वीपके मण्णार प्रदेशमें उतार देंगे ?' एक भारतीयने फ्रांसके समुद्री जहाजके क़प्तानसे जब यह प्रार्थना की, तो कप्तान चकित रह गया । यह उस फ्रांसीसी जहाजकी बात है जो प्रथम बार भारत पहुँचा था । पुर्तगाली उससे बहुत पहले आ चुके थे । भारतकी यात्रा करके, यहाँके बहुमूल्य वस्त्र लेकर वह जहाज लौटने जा रहा था । फ्रांसकी सुन्दरियाँ उस समय भारतीय कलापूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रोंपर प्राण देती थीं ।

'शाकद्वीप ?' कप्तान तथा उसके साथी टूटी-फूटी हिंदी बोल-समझ लेते थे । इसके बिना भारतीय-प्रवास व्यर्थ होता । लेकिन इस युवककी बात कप्तानकी समझमें नहीं आयी थी । वह यह भी नहीं समझ पाता था कि यह युवक यात्रा क्यों करना चाहता है; क्योंकि भारतीय व्यापारियोंके अतिरिक्त अन्य वर्णके लोग समुद्र-यात्रासे बचना चाहते थे और यह युवक व्यापारी नहीं लगता था ।

'आप उसको दक्षिण करके ही स्वदेश जायँगे ।' युवकने बतलाया । उस समय स्वेज नहर तो थी नहीं । योरोपीय व्यापारीके लिये सम्पूर्ण अफ्रिका घूमकर ही भारत आना पड़ता था । भारतीय व्यापारियोंने बहुत पहलेसे एक मार्ग बना रक्खा था । मिस्र वे पहुँचते थे समुद्रके द्वारा और वहाँसे स्थल पार करके भूमध्यसागरमें; किंतु यह मार्ग जलदस्युओंसे पूर्ण था और इससे यात्रा अथवा व्यापार उनके लिये ही सम्भव था जो अरब तथा मिस्रके कई शासकोंकी मित्रता पहलेसे प्राप्त कर चुके हों ।

'आप क्या करेंगे यहाँ उतरकर ?' कप्तानने नक्शा निकाल लिया था । युवकने उसे ध्यानपूर्वक देखकर अफ्रिका महाद्वीपके पश्चिमी तटपर एक स्थान अँगुलीसे सूचित किया और कप्तानके नेत्र आश्चर्यसे फैल गये—'यह मनुष्यभक्षी प्राणियोंकी निवासभूमि है । घोर वन, और उसमें सुनते हैं कि शैतान अपनी पूरी सेनाके साथ रहता है । सिंह, रीछ, अजगर, गुरिल्ले, सात फुटवाले दैत्याकार मनुष्य और इन सबसे भयानक बौने—वहाँ तो पूरी सेना लेकर हमारा सम्राट् भी उतरनेका साहस नहीं करेगा और आप एकाकी हैं ।'

'आप जिसे पृथ्वी कहते हैं, वह सप्तद्वीपवती भूमिके जम्बूद्वीपका भरतखण्ड मात्र है । उसे शाकद्वीप तो मैं आपके संतोषके लिये कहता हूँ ।' युवककी बात कप्तानकी समझमें तो क्या आती, आजके बड़े-से-बड़े भूगोलज्ञकी समझमें नहीं आती है । वह कह रहा था—'मैं सूर्यवंशमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ । मेरे पूर्वज समस्त भूमण्डलके सम्राट् महाराज मरुत्तने वहाँ युगान्तव्यापी महायज्ञ किया था । उनकी उस पावन यज्ञस्थलीके दर्शन करके मैं वहाँ एक अनुष्ठान करना चाहता हूँ । भारतमें सूर्यवंशी सम्राटोंकी यज्ञभूमियोंपर अपनी श्रद्धाञ्जलि मैंने अर्पित कर ली है ।'

यहाँ आपको मैं इतना बतला दूँ कि युवकका गन्तव्य 'मण्णार' अब भी है । वह कांगोके पश्चिमी समुद्र समीप पड़ता है । अब उसे 'मस्नार' कहते हैं । सुना है कि वहाँ भूमिमें कुछ नीचे बहुत बड़े भू-भागमें भस्म मि[illegible]

है। उस भागके निवासी अब भी अपनी सात फीटकी ऊँचाई-के कारण विश्वके सबसे लंबे मनुष्य माने जाते हैं।

'हम अपना जहाज वहाँ नहीं ले जायँगे।' यूरोपमें कांगोंके उस प्रदेशके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ फैली थीं। कप्तान अपने बहुमूल्य सामग्रीसे भरे जहाजको किसी संकटमें डालना नहीं चाहता था। 'आपको बिना किसी शत्रुताके मौतके मुखमें डालनेका पाप मैं नहीं करूँगा।'

'आप मेरी चिन्ता मत करें। मौत काँपती है उन श्रीनारायणसे। यम उनके पुत्र हैं और मैं तो उन दण्डधरका भी वंशज हूँ।' युवकने सूर्यकी ओर नेत्र उठाये तो अद्भुत तेज एवं विश्वाससे उसका मुख दीप्त हो उठा। 'आप मुझे दूर समुद्रमें एक छोटी नौका भी न दे सकें तो तटतक तैरकर चले जानेकी भी शक्ति मुझमें है। मुझे केवल वहाँ समुद्रमें उतारनेके लिये ले चलें। आपको इसका पारिश्रमिक प्राप्त होगा।'

'नहीं, इसकी आवश्यकता हमें नहीं है।' कप्तानने वे स्वर्णमुद्राएँ उठा लेनेका युवकसे आग्रह किया, जो उसने कप्तानके आगे डाल दी थीं। 'हमें आपके इस आदरणीय देशकी मित्रता चाहिये। फ्रांस साहसी दृढ़निश्चयी शूरोंका सम्मान करना जानता है। आप हमारे अतिथि होकर जहाज-पर चलेंगे। समुद्रतटतक जहाज तो नहीं जायगा; किंतु एक छोटी नौकामें हमारे नाविक तटतक उतार आयेंगे। तटपर आप सुरक्षित उतर जायँ, केवल इतना हम कर सकते हैं।'

× × ×

अद्भुत अतिथि था यह भारतीय युवक भी। वह अपने साथ ढेर लाया गट्ठरोंके और कई बड़े पात्र जल भरवाये उसने। कप्तानको इससे पता लगा कि भारतीय नदी गङ्गाका जल महीनों स्वयं स्वच्छ, सुरक्षित रहता है। यूरोपसे भारततक आनेमें जहाजके लोगोंको पीनेके पानीका बड़ा कष्ट हुआ था। यद्यपि अफ्रिकाके केप अन्तरीपपर तथा दो और स्थानोंपर जल उन्होंने लिया था; किंतु वह मार्गमें सड़ गया। उस कृमि पड़े जलको छानकर पीनेपर भी अनेक नाविक रोगी हुए। दुर्गन्धित जल वैसे भी विवशताके कारण ही पीना पड़ता था। कप्तानने जहाजका पूरा जल फेंक दिया और गङ्गाजल अपने पात्रोंमें भी उसने [illegible]वाया। युवक प्रसन्न हो गया—'गङ्गाजलमें स्पर्शदोष [illegible]ता।'

जहाजपर वह अपने साथ लाये गट्ठरोंमेंसे सूखे मेवे खाता था। चना, गेहूँ, मूँग भिगाकर चबा लेता था। उसके मेवोंमें जहाजके प्रत्येक सदस्यका दैनिक भाग था; किंतु उसने कप्तानकी कोई वस्तु नहीं ली। उसका व्यवहार ऐसा था जैसे जहाजके दूसरे सब लोग अतिथि हों और वह स्वयं आतिथेय हो। कप्तानने कई बार अपने लोगोंमें कहा—'भारतीय आतिथ्य करनेमें अपनी तुलना नहीं रखते, यह हमने सुना था; किंतु वे अपने सभी सद्‌गुणोंमें देवताओंसे भी बड़े हैं, यह हमें अनुभव नहीं होता, यदि हम इस युवकका साथ न पाते।'

महीनों लगते थे यात्रामें। स्नेह, सौजन्य, सरलताकी मूर्ति वह युवक सबका अत्यन्त सम्मान-भाजन हो गया था। जहाजपर भी वह तीन समय स्नान करता था। यूरोपके उस समयके उन नागरिकोंको भले वे सुसभ्य शालीन फ्रांसके नागरिक हों, युवककी यह संध्या-पूजा समझमें नहीं आती थी। किंतु जब वह जहाजपर दोनों हाथोंमें जलपात्र उठाकर सूर्यके सम्मुख खड़ा होता था, उसके मुखकी वह उद्दीप्त भंगिमा, वह भव्य शान्ति ऐसी थी कि कप्तान और नाविक प्रायः नियमसे उस समय उसे देखने डेकपर आ जाते थे। जब वह अपना न समझमें आनेवाला स्तवन समाप्त करके घूमता, एक साथ सब उसे अभिवादन करते। यह क्रम अपने-आप बन गया था और क्यों बना था, इसे कोई जानता नहीं था।

× × ×

'अब क्या होगा ?' अकस्मात् वायु सर्वथा बंद हो गया। जहाजके पाल अपने आधारके साथ सीधे झूल गये। जहाज पूरे सात दिन समुद्रसे लगभग एक स्थानपर ही स्थिर रहा तो कप्तानने जहाजके सभी लोगोंको एकत्र किया। वह उनके साथ योजना बनाने लगा था—'कोई नहीं जानता कि पवन कब प्रारम्भ होगा। महीने-दो-महीने अथवा उससे भी अधिक। अनेक जहाजोंके यात्रियोंके समान अन्न-जलके अभावमें हमारे भाग्यमें भी मरना है या नहीं, कैसे कहा जा सकता है। ऐसी अवस्थामें आजसे सबको सीमित जल तथा आहार मिलेगा। हम अधिक-से-अधिक दिन विपत्तिका सामना करनेको अभीसे तैयार होंगे!'

सबने स्थितिकी गम्भीरता समझ ली थी। किसीके लिये कुछ कहनेको नहीं था। अन्तमें कप्तानने कहा—'एक बात हमें विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी है। भारतीय युवक फ्रांसका सम्मान्य अतिथि है। वह अब चाहे जितना हठ करे, उसे

मेवे कोई नहीं स्वीकार करेगा । उसको पानीका अभाव अनुभव नहीं होना चाहिये ।'

भारतीय युवक इस बैठकमें नहीं था । होता भी तो फ्रेंच वह समझ नहीं सकता था । उसे बड़ा बुरा लगा तब जब प्रातःकाल उसके मेवे स्वीकार करना एक ओरसे नाविकों-ने बंद कर दिया । वह झल्लाया पहुँचा कप्तानके कक्षमें— 'आपने मेरा सामूहिक बहिष्कार कर दिया है ? अन्ततः मुझ-से अपराध क्या हुआ ?'

'आप देख रहे हैं कि जहाज सात दिनसे समुद्रमें स्थिर है । हमें कबतक पड़े रहना होगा, कौन कह सकता है ?' कप्तानके नेत्र भर आये थे । 'आप हमारा भोजन स्वीकार नहीं करते । यह विपत्तिका समय सबके भोजनको अधिक-से-अधिक सुरक्षित रखनेका है ।'

'ओह ! मेरा ध्यान ही नहीं गया कि जहाज स्थिर रहनेसे हम विपत्तिमें पड़ गये हैं ।' युवक गम्भीर हो गया । 'जहाँ एक भी क्षत्रिय है, विपत्तिसे बचानेका दायित्व उसपर होता है । वायुको चलना पड़ेगा । वह न भी चले, आप सबको आहार तो मैं दे ही सकता हूँ ।'

'आपके मेवे और अन्न सबको कितने दिन भोजन देंगे ?' कप्तानको लगा कि युवक अभी परिस्थिति समझ नहीं रहा है ।

'आप सब मत्स्यभोजी हैं और मैं अपना धनुष साथ लाया हूँ । सागरमें जलचरोंका अभाव नहीं है । भारतीय लक्ष्यवेध आपने देखा नहीं होगा ।' युवकने उसी गम्भीरतासे कहा । 'किंतु वायुको चलना चाहिये ।'

वह मुड़ा और डेकपर आ गया । कुतूहलवश ही कप्तान उसके पीछे आया । युवकने दोनों हाथ उठा दिये भगवान् सूर्यकी ओर मुख करके । उसके मुखसे सस्वर श्रुतिके मरुत्-स्तवनके मन्त्र उच्चरित होने लगे । उसके मुखकी अरुणिमा गाढ़-से-गाढ़तर होती गयी ।

'भारतीय अद्भुत शक्ति रखते हैं ।' सुना तो सबने था; किंतु आज सबने देखा । जहाजके नाविक डेकपर थोड़ी देर ही रह सके । वायुमें गति आ गयी थी । पाल तन गये थे । सबको अपने कार्यपर पहुँचना आवश्यक हो गया । जहाज पूरे वेगसे लक्ष्यकी ओर चल पड़ा था ।

× × ×

विपत्ति अकेली नहीं आती । केवल दो सप्ताहकी यात्रा सकुशल चली उस सप्ताह भर एक स्थानपर स्थिर रहनेके पश्चात् । अचानक रात्रिमें जहाजपर खतरेका बिगुल बजने लगा । भाग-दौड़ने युवककी निद्रा भंग कर दी । वह कक्षसे बाहर आया । नाविक दौड़ रहे थे । पाल सब कुछ क्षणोंमें उतार दिये गये । जल तथा भोजनके भारी पात्र जंजीरोंसे जकड़ दिये गये । प्रत्येक कक्षमें नाविकोंने जाकर हर छोटी-बड़ी वस्तुको कहीं बंद किया अथवा बाँधा । युवकके कक्षमें भी यही हुआ । लेकिन यह सब क्या हो रहा है, युवक समझ नहीं सका । इस समय किसीको उसकी ओर ध्यान देनेका अवकाश नहीं था और युवक उन लोगोंकी पुकार तथा घबराहट-भरे वाक्य समझ नहीं पाता था । वह कक्षसे निकलकर डेकपर आ गया ।

पूर्णिमाकी उज्ज्वल चन्द्रिकामें उल्लसित सागर—उसमें उत्ताल तरगें उठ रही थीं । युवकके लिये डेकपर निरावलम्ब खड़े रहना सम्भव नहीं रहा । उसने एक पालके दण्डको पकड़ लिया । उसे नाविकोंकी व्याकुलता समझनेमें देर नहीं लगी । दूर क्षितिजतक उठता, उबलता उदधि घोर गर्जन करता उमड़ा आ रहा था । उसे समुद्रीय तूफानका अनुभव भले न हो, विपत्तिका स्वरूप ज्ञात हो गया । जहाजकी प्रत्येक वस्तु क्यों बन्धनमें रक्खी गयी, यह भी वह समझ गया । उत्ताल लहरोंपर उछलते जहाजमें कोई खुली वस्तु तो वेगसे टकराती, लुढ़कती विनाशका ही साधन बनेगी । वह मनुष्योंको मार सकती है । सामग्री नष्ट कर सकती है । जहाज-को तोड़ दे सकती है ।

'हे भगवन् !' जहाजमें प्रायः लोग कातर प्रार्थना करनेमें लगे थे । वह साधारण आँधी नहीं थी । अकल्पित तूफान था । जहाज किसीके नियन्त्रणमें नहीं रह गया था । वह किधर जा रहा है, कोई बता नहीं सकता था । सब भयभीत, सब अस्तव्यस्त और सब किसी-न-किसी खंभे अथवा दृढ़ आधारको दोनों भुजाओंमें जकड़े बैठे थे । जहाज उछलता था, झटके लगते थे और लगता था कि भुजाएँ उखड़ जायँगी ।'

'नारायण ! तुम्हीं रुद्र हो । तुम्हारा यह ताण्डव—बड़ा भव्य है यह तुम्हारे पावनपदोंकी गति प्रभु !' किसीको अवकाश नहीं था कि देखे कि भारतीय युवक क्या कर सकता है ।

'आप कुछ कर सकते हैं ?' कप्तान किसी प्रकार समी[illegible] आया युवकके और उसने प्रार्थना-कातर स्वरमें क[illegible]

पर्वताकार तरङ्गें—लगता था कि जहाज अब डूबा। कप्तानने अपने सब लोगोंको जहाजमें आये जलको निकालनेमें लगा दिया था।

'मैं ? मुझे कुछ करना चाहिये ? आप जो आदेश दें !' युवक चौंका। उसे लगा कि कप्तान उसे भी जल निकालने-जैसे काममें लगाना चाहता है।

'इस अकल्पित तूफानसे जहाजकी रक्षाके लिये आप अपनी अद्भुत शक्ति काममें लें तो कदाचित् हम सबका जीवन बच जाय।' कप्तानको ऐसी अवस्थामें भी इस शान्त, सुप्रसन्न युवकका मुख देखकर आशा हो गयी थी।

'हम उस अनन्तशायीके अङ्कमें हैं। वह तनिक क्रीड़ा कर रहा है। उसकी क्रीड़ामें आप सहयोग करेंगे ?' युवक अपनी धुनमें पूछ गया।

'अवश्य !' कप्तानने केवल इतना समझा कि युवक कुछ करना चाहता है और उसे सहयोगकी अपेक्षा है।

'जहाजकी दिशा नियन्त्रित कीजिये। उसे मेरे निर्दिष्ट मार्गपर चलने दीजिये ! वह लीलामय जो लीला दिखलाना चाहता है, उसे देखनेमें हम कातर क्यों हों ?' युवक उठ खड़ा हुआ। उसने एक हाथसे स्तम्भ पकड़ा और एकसे दिशा-निर्देश करना प्रारम्भ किया।

'कप्तान ! रोको उसे। भारतीय पागल हो गया है।' नाविकोंके तीनों नायक एक साथ दौड़े आये थे। 'वह जहाजको भयंकर भँवरकी ओर ले जा रहा है।'

'जहाजको यदि कोई बचा सकता है तो वही बचा सकता है। जहाज वैसे भी डूबेगा ही, अतः उसके आदेशका पालन होना चाहिये।' कप्तानके स्वरमें वज्रकी दृढ़ता थी। 'तुम उसके मुखको नहीं देखते ?'

सचमुच उस युवकके मुखपर जो शान्ति, जो निश्चिन्तता, जो प्रसन्नता थी, वह दूसरेको भी निश्चिन्त कर देती थी। कप्तान भी काँप गया जब ठीक मीलोंतक चक्कर काटते भ्रमरमें जहाज डाल देनेका संकेत युवकने किया; किंतु उसका आदेश पालन करना ही था।

'अब आपका जहाज सिन्धुसुताके स्नेहसे सुरक्षित है !' भारतीय युवक घूमा कप्तानकी ओर।

'ओह ! तो आप सागरीय-ज्ञानके भी महापण्डित हैं !' कप्तान बढ़कर गलेसे लिपट ही गया। समुद्रमें जहाँ उत्तुङ्ग [illegible] उठती हैं, वे आगे उमड़कर एक स्थानपर जलके नीचेसे लौटती हैं। इस स्थानको समुद्रकी पछाड़ कहते हैं। यह स्थान परिवर्तित होता रहता है; किंतु वहाँ समुद्रका जल स्थिर शान्त होता है। जहाज इस समय समुद्रकी पछाड़में पहुँचकर स्थिर, निश्चल खड़ा था। चारों ओर हाहाकार करती, क्षितिजको छूती लहरें अब उठती रहें, जहाजमें केवल हल्का कम्पन ही होना सम्भव था। अनुभवी कप्तानने देख लिया था कि अब तूफान शान्त होनेतक उसे खुले समुद्रमें ऐसा स्थान मिल गया है जो किसी भी सुरक्षित बन्दरगाहसे अधिक सुरक्षित है।

'आपकी इस अखण्ड शान्तिका रहस्य क्या है ?' कप्तान युवकको आदरपूर्वक अपने कक्षमें ले आया था। उसने बहुत विनम्र होकर पूछा—'समुद्रीय-ज्ञान आपने कहाँ उपलब्ध किया ?'

'मेरी यह सर्वप्रथम समुद्र-यात्रा है। समुद्रसे मेरा कोई परिचय नहीं।' युवक सरल स्वरमें कह रहा था। 'किंतु समुद्रशायी श्रीहरि मेरे अपने हैं, यह मैं जानता हूँ। सृष्टिके संचालकपरसे दृष्टि मत हटने दो, महाप्रलय भी तुम्हारी शान्तिको कम्पित करनेमें असमर्थ रहेगी।'

× × ×

कोई नहीं चाहता था कि युवक उस अरण्यके भयावह तटपर उतरे, किंतु उसे उतरना ही था। छोटी नौकापर उसे तटतक छोड़ने स्वयं कप्तान गया।

उसके बाद कोई नहीं जानता कि उस युवकका क्या हुआ। पीछे कांगोके बेल्जियम प्रशासकको वन्य जातियोंके एक प्रमुखने एक दिन कहा था—'एक भारतीय योगी हमारे यहाँ एक रात्रि रहा था। पता नहीं, उसमें क्या था कि गुरिल्लोंके दलका सरदार उसके पैरोंके पास सबेरे आ बैठा। वह गुरिल्लोंके साथ उत्तर चला गया।'

मिस्रमें एक भारतीय व्यापारीको एक तरुण मिला एक दिन। व्यापारीने उसके भारत पहुँचानेकी व्यवस्था कर दी। व्यापारीको लगा कि तरुण कुछ विक्षिप्त हो गया है; क्योंकि सम्पूर्ण अफ्रिका महाद्वीपको केवल धनुष लेकर पैदल पार करनेकी बात तो व्यापारीकी समझसे कोई विक्षिप्त ही कर सकता है। इसपर वह युवक उस जातिके मांसाहारी, दारुणतम गुरिल्लोंको अपना सहायक बतलाता था, जिनकी दहाड़ सुनकर सिंह भी पूँछ दबाकर दुबकनेका स्थान ढूँढ़ते दीखते हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी धर्मभावना

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणने श्रीमद्भागवतकी अपनी श्री-सुबोधिनी टीकामें स्थान-स्थानपर जीवनके अनेक तथ्यों तथा धर्माचरणके नियमोंका मनोवैज्ञानिक आधारपर विश्लेषण करते हुए निरूपण किया है, जिनमें उच्चतम विचारों तथा सिद्धान्तोंका स्वारस्य निहित है। श्रीसुबोधिनीमें आप श्री-की ऐसी सूक्तियाँ अनन्त हैं। धर्मभावनासे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ सूक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

व्याजेन करणं धर्मो न भवति।

(भा० १०। ७५। १८)

व्याज (बहाने) से किया हुआ कर्म धर्म नहीं है।

तत्र रुचिश्चेद्भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम्।

(भा० १। २। ६)

साधनके रूपमें यदि भगवान्‌में रुचि हो—अर्थात् भगवान् अमुक अर्थ प्राप्त करा देंगे, ऐसे हेतुसे यदि उनमें रुचि हो—तो वह धर्म नहीं है।

पुत्रादिकामनया क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति। फलस्याविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्। (भा० १। २। ७)

पुत्रादिकी कामनासे किया हुआ धर्म, धर्म ही नहीं; क्योंकि ऐसे फल अविद्याके कार्य होनेसे दुःखरूप हैं।

भगवत्कर्माणि धर्मरूपाणि···। तानि मनसा भावितानि मनोयज्ञा भवन्ति, कीर्तितानि वाग्यज्ञाः, श्रुतानि ज्ञानयज्ञाः।

(भा० २। ५। ७)

भगवान्‌के कर्म धर्मस्वरूप हैं—मनके द्वारा भावना करनेसे वे मनोयज्ञ होते हैं, कीर्तन करनेसे वाणीयज्ञ तथा श्रवण करनेसे ज्ञानयज्ञ होते हैं।

यावद्देहोऽयम्, तावद्वर्णाश्रमधर्मा एव स्वधर्माः, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्मा वा। यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तम्, तदा दास्यं स्वधर्मः, अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः। यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्तास्तदा अलौकिकधर्मा एव ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः स्वधर्माः, अन्ये परधर्माः। (भा० ३। २९। २)

जबतक यह देह है (अर्थात् 'मैं देह हूँ' ऐसी समझ है) तबतक वर्णाश्रमके धर्म ही उसके स्वधर्म हैं और भगवद्धर्म आदि परधर्म अथवा विधर्म हैं, परंतु जब जीव अपनेको संघातसे पृथक् मानता है तब भगवान्‌का दास्य उसका 'स्वधर्म' है और दूसरे वर्णाश्रम आदि परधर्म हैं तथा जब जीव भगवद्भावको प्राप्त कर लेता है, तब ऋषभदेव जिस तरह गोचर्या आदि करते थे, वैसे अलौकिक धर्म ही जीवके स्वधर्म होते हैं और अन्य सब परधर्म होते हैं।

बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः शारीरमेव धर्मं स्वधर्ममाहुः, न त्वात्मधर्मं भगवद्धर्मं वा। यतस्तेऽनात्मविदः।

(भा० १०। २६। ३२)

धर्मशास्त्र जाननेवाले बहिर्मुख व्यक्ति शरीरके धर्मको ही स्वधर्म कहते हैं, परंतु आत्माके धर्म अथवा भगवद्धर्मको वे स्वधर्म नहीं कहते; क्योंकि वे आत्माको नहीं जानते।

धर्मफलमधर्मो न सहते यथाऽऽमयो गुरुभोजनम्।

(भा० १०। ७१। ५३)

जिस प्रकार रोग भारी भोजनको सहन नहीं कर सकता, उसी तरह अधर्म धर्मके फलको सहन नहीं करता।

धर्मो धर्मिमूलस्तदविरोधेन कर्तव्यः, धर्मिविचारो धर्मादप्यधिकः। (भा० १०। २६। ३२)

धर्मका मूल 'धर्मी' (भगवान्) हैं, इसलिये 'धर्मी' का विरोध न हो, इस प्रकार 'धर्म' करना चाहिये। धर्मी'का विचार 'धर्म'से भी अधिक (मुख्य) है।

धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीयः।

(भा० १०। ७३। ३३)

धर्म और कीर्तिका विरोध हो, वहाँ धर्मकी रक्षा करनी चाहिये।

यथा विक्षिप्तेन्द्रियस्य न शारीरो धर्मः फलाय, नाप्यैन्द्रियधर्मो विक्षिप्ते मनसि तथा भगवद्विमुखस्य न कोऽपि धर्मः सिद्ध्यति। यदि देहाद्यनुरोधेन, लोकानुरोधेन वा देहादिलोकानां बाधकत्वाद्वा, भगवदादरं न कुर्यात्, तदा तेषामेव दोषो भवेत्। भगवांश्च तानेव दण्डयेत्······स्वत एव यदि भगवन्तं न मन्येत, तस्य सर्वनाशो भवेत्। (भा० ३।१३।१३)

जिस प्रकार विक्षिप्त इन्द्रियवाले मनुष्यको शारीरिक धर्म फल नहीं देता, अथवा विक्षिप्त मन होनेपर इन्द्रिय-धर्मसे फल नहीं होता, उसी प्रकार यदि जीव भगवद्विमुख है तो उसका कोई धर्म सिद्ध नहीं होगा। यदि देह आदिके अनुरोधसे या लोकके अनुरोधसे या देहादि और लोकमें बाधक होनेसे भगवान्‌का आदर न किया जायगा

उन्हींका (देह, लोक आदिका) दोष होगा और भगवान् उन्हींको दण्ड देंगे और यदि जीव स्वयं ही भगवान्की अवगणना करता है तो उसका सर्वनाश होता है ।

भगवदनुवृत्तिव्यतिरेकेण कृतेनान्येन धर्मादिना न कृतिरवं भवति । (भा० १ । ११ । ७)

भगवान्की अनुवृत्ति (भगवत्परता या भगवदभिमुखता) के बिना किये हुए अन्य धर्म आदिसे कृतार्थता नहीं होती ।

भगवदनङ्गीकृतो धर्मः फलदायी न भवेत् ।
(भा० ३ । १९ । ५)

भगवान्ने अङ्गीकार न किया हो, ऐसा धर्म फल देनेवाला नहीं होता ।

अत्यन्तधर्मकर्तापि भूतद्रोहं चेत्कुर्यात् तदा शं न लभेतैव । सर्वं धर्मं बाधित्वा द्रोहः स्वफलमेव प्रयच्छति ।
(भा० १० । ४१ । ४७)

अत्यन्त धर्म करनेवाला भी यदि प्राणियोंका द्रोह करता है तो उसे सुख सर्वथा नहीं मिलेगा । ऐसा द्रोह सर्वधर्मोंका बाध करके केवल अपना फल ही देगा ।

धर्मस्य चान्तःकरणपरितोषः फलम् । तदभावे धर्मः श्रमः । (भा० १ । ४ । २६)

अन्तःकरणका संतोष—यह धर्मका फल है, उसके अभावमें धर्म श्रम है ।

अन्तमें श्रीवल्लभाचार्यजीके षोडश ग्रन्थोंमेंसे एक उद्धरण नीचे दिया जाता है जिसमें एक ही श्लोकमें धर्मका सम्पूर्ण तथ्य निहित किया हुआ पाया जाता है—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥

सर्वदा सर्वभावसे व्रजाधिपति श्रीकृष्णका भजन करें, केवल यही हमारा धर्म है—कहीं भी और कभी भी अन्य कोई धर्म नहीं है । यहाँ 'सर्वदा' पद देकर कहा है कि हमारी भक्ति सतत धारा-प्रवाहवत् अविच्छिन्न हो । 'सर्वभावेन' पदद्वारा बताया है कि हम सर्वत्र भगवद्भाव रक्खें, भगवदतिरिक्त कुछ नहीं है यह समझें ।

'व्रजाधिप' श्रीकृष्णका भजन कहा है जिसका आशय है कि कंसारि श्रीकृष्ण या वासुदेव श्रीकृष्ण नहीं, परंतु व्रजके अधिपति—व्रजजन, यशोदा, गोपीजन आदि निःसाधन भक्तोंके अनुग्रहकर्ता, उनमें स्वप्रेम एवं निरोधकी सिद्धि करनेवाले लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी उन्हींकी तरह अहैतुकी भक्ति करें । 'भजनीयः' पदमें ('भज' धातुका अर्थ सेवा होता है, अतः) सेवा करनेका आशय है । इस सेवामें आधिदैविक रूपसे परमतत्त्व यशोदोत्सङ्ग-लालित, श्रीकृष्णकी, आध्यात्मिकरूपसे ब्रह्मतत्त्वकी एवं आधिभौतिक रूपसे प्राणिमात्रकी सेवाका समावेश होता है ।

(संकलनकर्ता—श्रीगोपालदास झालानी)

परम धर्म

एकमात्र प्रभुकी सेवा कर्तव्य-कर्म है ।
नित्य निरंतर प्रेमपूर्ण, बस, परम धर्म है ॥
सकल इन्द्रियोंसे तन-मनसे मतिसे नित ही ।
बनती रहे सदा सेवा यह चिरवाञ्छित ही ॥
रहे न कभी तनिक इच्छा आराम-भोगकी ।
रहे न वाञ्छा तनिक मोक्ष, निज सुख-सँयोगकी ॥
रहे एक बस, प्रेम-सुधा-रस-आस्वादन ही ।
सर्वधर्ममस्तक-मणि यह, हरि-आराधन ही ॥

पुष्टिमार्ग और धर्म

(लेखक—बागरोदी श्रीकृष्णचन्द्रजी शास्त्री, साहित्यरत्न)

धर्मकी परिभाषा जहाँ बड़ी ही जटिल है, वहाँ बड़ी सरल भी है। इसपर प्राचीन कालसे लेकर अर्वाचीनकाल तकके विद्वानोंने, आचार्योंने, संतों, भक्तोंने विचार किया है और वे धर्मका स्वरूप क्या है, इस निर्णय या तथ्यपर पहुँचे हैं। पुष्टिमार्गके प्रवर्तक जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यने भी लोककी स्थिति, लोकमर्यादा, लोकव्यवहारको देखते हुए विभिन्न शास्त्रोंका सम्यक् पर्यालोचन कर धर्मके सम्बन्धमें अपना सिद्धान्त स्थिर किया है और पुष्टिमार्गको धर्मसे ओतप्रोतकर लोककल्याणार्थ उसे प्रकट किया है।

धर्मके सम्बन्धमें श्रीमद्वल्लभाचार्यने महर्षि कणादके 'अभ्युदय, निःश्रेयस' तथा श्रीमनुकथित धृति आदि दस धर्म तथा स्मृतिकार श्रीयाज्ञवल्क्यकथित श्रुति-स्मृति-सदाचार स्वात्मप्रिय तथा सत्यसंकल्प—आदि धर्मके लक्षणोंपर विचार करनेके बाद दृढ़ता एवं पूरी निष्ठाके साथ वेद-शास्त्र, भगवद्गीता, व्याससूत्र, श्रीकृष्णद्वैपायनकी समाधि-भाषा श्रीमद्भागवत-महोदधिमें अवगाहन किया। आचार्यको भागवतके धर्मविषयक सिद्धान्त बहुत ही प्रिय लगे। उनमें आपने अपने हृदयका सामञ्जस्य पाया। भक्ति-साधनाको एक आश्रय मिला, जीवनके लिये उन्हें संबल उपलब्ध हुआ।

श्रीमद्भागवतमें—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(७। ११। ७—१२)

'सर्ववेदरूप या देवमय भगवान् ही धर्मविषयक प्रमाण हैं। वेदोंके जाननेवाले पुरुषोंकी स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं। जिससे अन्तःकरण प्रसन्न हो हे राजन्! वह भी प्रमाण है। सत्य, दया, तप, पवित्रता, सहनशीलता, योग्यायोग्य-विवेक, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, यथोचित जप, सरलता, संतोष, महत्पुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे प्रवृत्तिके कर्मोंसे निवृत्ति, मनुष्योंकी निष्फल जाति-क्रियाओंका विचार, मौन, देहात्माका अनुसंधान, अन्नादिकोंमेंसे दूसरे प्राणियोंका यथोचित विभाग, सर्वप्राणिमात्रमें देवबुद्धि, भगवान्‌का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, दासभाव, सखाभाव, आत्मसमर्पण—ये धर्मके तीस लक्षण सभी मनुष्योंके पालन करने योग्य हैं, जिससे हे राजन्! सर्वात्मा हरि प्रसन्न होते हैं।'

श्रीव्यासजीकी उक्तियोंसे अपने पुष्टिमार्गके संचालनमें महाप्रभुको बड़ा बल मिला। उन्होंने अपने सम्प्रदायके लिये पूर्ण विचारके साथ उपर्युक्त चार शास्त्रोंको चार स्तम्भ बनाकर पुष्टिमार्गका या शुद्धाद्वैतका भव्य भवन निर्माण किया।

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥
(निबन्ध)

वेद, श्रीकृष्णवाक्य (भगवद्गीता), व्याससूत्र और समाधि-भाषा (श्रीमद्भागवत)—ये चार ही मुख्य प्रमाण हैं।

इसकी दृढ़तामें पुष्टिमार्गके आचार्यश्रीवल्लभने एक घोषणा और भी की—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥
(निबन्ध)

देवकीके पुत्रके द्वारा गायी गयी गीता ही एक शास्त्र है, देवकीके पुत्र व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही एक दे[illegible]

उनके सुमधुर नाम ही मन्त्र है और उनकी सेवा ही जीवका कर्म है।'

अन्तमें पूर्ण निष्कर्ष या साररूपमें आचार्यने यह सिद्ध किया कि जीवमात्रका हरिदास होना ही वास्तविक सत्य धर्म है और उसीको सभीके समक्ष प्रकट किया—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥
(चतुःश्लोकी)

'सर्वदा सर्वभावसे व्रजाधिप श्रीकृष्णका भजन करना ही, उनकी उपासना-सेवा करना ही धर्म है, किसी कालमें और किसी देशमें श्रीकृष्णकी भक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है।'

एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥
(चतुःश्लोकी)

'हमें तो सेवारूप स्वधर्मका पालन करना चाहिये। प्रभु स्वयं अपना कर्तव्य जो कि हमारे प्रति करना है पूर्ण करेंगे। श्रीप्रभु सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। हमें निश्चिन्त होकर रहना चाहिये। हमारा सारा योगक्षेम उन्हींके ऊपर है।'

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥
(चतुःश्लोकी)

'यदि श्रीगोकुलके अधिपति श्रीकृष्णको सम्पूर्ण रूपमें सब प्रकारसे हृदयमें धारण कर लिया तो फिर लौकिक और वैदिक फलोंसे हमें क्या प्रयोजन है?'

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥
(चतुःश्लोकी)

'अतएव सब प्रकारसे सदैव श्रीगोकुलेशके चरणकमलोंका स्मरण और भजन त्याग करनेयोग्य नहीं है। इस प्रकारकी मेरी (श्रीवल्लभाचार्यकी) सम्मति है।'

इससे आचार्यने सिद्ध कर दिया कि जीवका हरिदासत्व ही 'स्वधर्म' है। इसमें सभी वैष्णवाचार्योंकी भी सम्मति है। श्रीमद्भागवतके निर्दिष्ट धर्म एक-एक करके हरिदासमें प्रवेश कर जाते हैं, मनु-उपदिष्ट धर्मोंका भी हरिदासमें स्वतः समावेश हो जाता है।

इसीसे प्रारम्भसे लेकर पुष्टिमार्ग धर्म-पालनका अत्यधिक आग्रही है। इसका सेवाक्रम, वात्सल्यभावकी उपासना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नामस्मरण, ब्रह्मसम्बन्ध (आत्मसमर्पण) परम उपादेय है। वैष्णवोंका दैनिक जीवन, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, वेश-भूषा सभी धर्मके साथ जुड़े हुए हैं। गोपालन, संकीर्तन, समाजसेवा, पतितोद्धार, एकता, देश-सेवा आदि धर्मोंको यह किसी-न-किसी रूपमें अपनाये हुए है। धर्मका व्यापक रूप इसमें देखनेको मिलता है।

वस्तुतः जिस प्रकार ईश्वर व्यापक है, उसी प्रकार धर्म भी है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें धर्म न हो। स्थलचर, जलचर, नभचर एवं अन्यत्र कहीं निवास करनेवाला ऐसा जीव नहीं जिसमें धर्म न हो, किंतु वातावरण, परिस्थिति, देश-काल, पर-संसर्गके अनुसार उसके निज धर्ममें परिवर्तन आ जाता है। वस्तुका रूप बदल जाता है, जैसे जलका हिमरूपमें हो जाना। समय-समयपर मनुष्य भी भ्रान्त होकर भौतिकवादकी या मायाकी मृग-मरीचिकामें फँसकर प्रमादवश अपने शाश्वत धर्मका महत्त्व न समझ दूसरेके धर्मको स्वीकार कर लेता है, उसका कृत्रिम आनन्द लेने लगता है। यही स्वभावजन्य विकृति उत्तरोत्तर बढ़कर मानवको दानव बना देती है—उसे पथभ्रष्ट कर देती है। उसकी बुद्धि अधर्मसे आवृत हो जाती है। वह अपने निज स्वरूपको भूलकर दूसरे ही प्रकारके लोक-विरोधी जन-हानिकारक आचरण करने लगता है। ऐसी स्थितिको सुधारनेके लिये भगवान् स्वयं या महापुरुषोंके रूपमें अवतार लेते हैं।

भगवान्ने गीतामें यह भी घोषणा की है कि—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अतः सभीके लिये हरिदासत्व स्वीकार कर इस युगके कष्टोंसे निवृत्ति पाना श्रेयस्कर है। यही परम धर्म है।

धर्म और सुख-शान्ति

(लेखक—श्रीराजमंगलनाथजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०, साहित्याचार्य)

भारतीय जीवन-दर्शन और संस्कृतिका अनादिकालसे आजतक एक विशिष्ट उद्देश्य रहा है। प्राचीन वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे लेकर भगवान् एवं आधुनिक महापुरुषोंके जीवन-दर्शनको यदि सूक्ष्मरूपसे देखा जाय तो उनमें एक आश्चर्यजनक एकरूपता दिखायी देगी। देश, काल, वय, बुद्धि और शक्तिके अनुसार भैषज्य धर्मोपदेश और धर्माचरण करते हुए अक्षय सुख और शान्ति प्राप्त करना और कराना सबके जीवनका लक्ष्य था।

धर्म क्या है? अक्षय सुख और शान्ति क्या है? इन विषयोंपर भारतीय ऋषि-मुनियोंने गहन विवेचन किया है। धर्मकी विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। महानारायणोपनिषद्में लिखा है—

धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।

अन्य जितनी व्याख्याएँ हैं उन सबका तत्त्वार्थ यही है कि धर्म मनुष्यको अक्षय शान्ति प्रदान करता है। धर्म ब्रह्मका स्वरूप ही है। जो धर्मविद् है, वह ब्रह्मविद् है। कहा गया है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। गोस्वामीजीने इसी तत्त्वको 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' कहकर सहजभावमें प्रकट किया है। यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना ही वास्तविक सुख है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्' अपरिच्छिन्न आत्मज्ञान ही वास्तविक सुख है। परंतु इस सुखकी प्राप्तिमें बाधक मोह, ममता और अज्ञानसे कैसे मुक्ति मिले? शास्त्र कहता है—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

आजके युगमें पाश्चात्त्य दर्शन और संस्कृतिके प्रभावसे ईश्वर और धर्म दोनों ही विविध तर्क, वितर्क और कुतर्कके विषय बने हुए हैं। मलिन बुद्धिके कारण भगवान्का अस्तित्व ही संदिग्ध हो गया है। मैंने दर्पणमें मुँह नहीं दिखायी देता तो यह कहना कि 'मुख नहीं है'—कुतर्क ही तो है। भगवान्को जाननेके लिये, भगवान्का अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये, बुद्धिकी शुद्धि आवश्यक है—

बुद्धिप्रसादाच्च शिवप्रसादाद् गुरुप्रसादात् पुरुषस्य मुक्तिः।

यज्ञ, तप और दान—धर्मके तीन स्कन्ध माने गये हैं। मनुष्य श्रवण, मनन और निदिध्यासनद्वारा धर्मस्कन्धोंका प्रतिपादन करता हुआ बुद्धि-शुद्धि कर सकता है। बुद्धि-शुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको संयममें रखकर वेदशास्त्रप्रतिपादित कर्मोंको करता हुआ वह मोक्षपदका अधिकारी होता है। श्रुति कहती है—'यज्ञो वै विष्णुः'। यज्ञस्वरूप विष्णुके प्रीत्यर्थ कर्मके द्वारा मनुष्य ईश्वरानुग्रह प्राप्तकर कर्मबन्धनसे मुक्त होकर तर जाता है, आत्मवित् हो जाता है। ऐसा मनुष्य दूसरोंके लिये भी आदर्श बनता है। 'स्वयं तीर्णः परान् तारयति' जो भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म नहीं कर सकता, वह इन्द्रियजन्य आकर्षणमें अवश्य आयेगा। 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'—यह सिद्ध सत्य है। बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों कर्म करते हैं, किंतु उनके विचारोंमें अन्तर होता है। मूर्ख आसक्तिके साथ कर्म करता है; बुद्धिमान् आसक्तिरहित, अहंकाररहित होकर समत्वभावसे आत्मशुद्धिके लिये कर्म करता है। यही मनुष्यका धर्म है। मनुस्मृति कहती है—'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः' यम-नियमपूर्वक निरलस होकर वेदोक्त कर्म तबतक करने चाहिये, जबतक संसारसे निर्वेद न प्राप्त हो और भगवान्की कथाके श्रवण-मननमें श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। श्रीमद्भागवतमें भगवान्का कथन है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

भागवती कथामें श्रद्धा होनेपर मनुष्यके सब काम भगवदर्थ ही होते हैं और भगवान् भक्तके दीर्घकालके पापोंको नष्ट कर देते हैं। भक्त भगवान्के साथ एकात्मता प्राप्त करता है। उसके मोह-शोक सब नष्ट हो जाते हैं। श्रुति कहती है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इसी स्थितिको भूमा सुख, अपरिच्छिन्न आनन्द, ब्राह्मी स्थिति और शिवत्व कहते हैं। इसी शिवत्वका भान होनेपर आत्यन्तिक शान्तिकी प्राप्ति होती है।

ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।

(श्वे० उप०)

सब काम प्रभुकी पूजा हैं !

(लेखक—श्रीरघुनाथजी महापात्र, एम्० ए०)

मुझसे बराबर पूछा जाता रहा है कि 'आपसे इतना काम कैसे हो जाता है ?' 'इतना' इस अर्थमें कि 'इतने प्रकारके और कुछ ही समयमें कई प्रकारके या एक ही कामकी अत्यधिकता ।' और मैंने प्रत्येकका उत्तर दिया है कि मेरे लिये प्रत्येक कार्य प्रभुकी पूजा है । काम केवल काम नहीं है, उसका उद्देश्य है, केन्द्र है—'प्रभुकी उपासना' और यही कारण है कि मेरे द्वारा इतना काम—यदि तथ्य और सत्यता ऐसी है—वह करा लेता है । मैं स्वयं ऐसा कर पाता हूँ यह कहना एक बड़ी भूल होगी ।

वस्तुतः पूजाकी भावनाके आ जानेपर कार्य सात्त्विक हो जाता है और उसके सम्पादनकी प्रेरणामें राग-द्वेष, कलह-विवाद आदिको स्थान न मिलकर एक सुन्दर प्रकारकी शान्ति एवं भीतरी शक्ति काम करती है । सात्त्विक कार्योंकी खूबी यह है कि उनसे सफलता-असफलताके कारण मनोवेगमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता, सम-स्थिति रहती है । पूजाकी भावना जोड़ लेनेसे कार्यमें सुन्दरता, सुचारुता, स्थायित्व आदि गुणोंका समावेश अपने-आप हो जाता है । निश्चित है कि क्षुद्र-सा काम भी उच्चस्तरका हो जाता है तथा उसमें अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति भी होती है ।

उदाहरणके लिये शरीरको साफ रखनेकी बात ही लें । 'शरीरको साफ मत रक्खो'—ऐसा कोई भी नहीं कहेगा; किंतु जबतक उस भावनाके प्रति मानसिक स्थितिका झुकाव न रहेगा, तबतक सफाई केवल दिखानेकी हो जायगी । क्या यही कारण नहा है कि मेरे बहुत-से बहन-भाई विशेषतः जाड़ोंमें नहानेका बहाना भर कर लेते हैं, ऊपरी सजावटसे यह जता देना चाहते हैं कि उन्होंने स्नान कर लिया है, जब कि शरीरकी गंदगी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । हममेंसे अधिकांश अंदरके कपड़े गंदे पहनते हैं । अच्छी प्रकार शरीरको साफ नहीं रखते; इस कारण नहीं कि उन्हें सफाई पसंद नहीं, वरं इसलिये कि वे आलस्यके फेरमें पड़ जाते हैं; किंतु इसमें यदि पूजाकी भावना जोड़ ली जाय तो यह आत्मप्रवञ्चना नहीं टिकेगी । प्रभुकी पूजा, आध्यात्मिकताकी भावनाके सामने प्रवञ्चना, छल-कपट, मोह, लोभको स्थान ही कहाँ ! संसारमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ बाहरी पूजा भी जीवनकी तारक बन गयी है—वाल्मीकि इसके अन्यतम उदाहरण हैं । घरके दैनिक जीवनमें बहुत-से कार्य हमें करने पड़ते हैं, जिन्हें या तो हम झुँझलाकर करते हैं या मनोयोगरहित, जैसे कि हम कैदी हैं । जब कार्य करना ही है, तब उसमें कष्टकी भावना क्यों ! घरको झाड़-बुहारकर साफ रखना, पुस्तकोंको फटनेसे रोकनेके लिये उनकी हिफाजत करना, लोटा या बर्तनोंको मलना, कपड़ोंको फींचना, नहाना आदि सब कार्य स्वाभाविक हैं, उनके लिये मन मारकर चेष्टा करनेकी भावनाको त्यागकर प्रभुकी पूजा या सेवाकी भावनासे उन्हें करना चाहिये । इससे कार्य सरल हो जाता है और दुश्चिन्ताएँ भी नहीं रहतीं । कोई कार्य हमें नहीं आता, तो यह सोचकर कि यह कार्य प्रभु हमसे कराना नहीं चाहते, उसमें हाथ न लगाना अच्छा है; किंतु जब करना ही पड़े, तब तो वह प्रभुकी इच्छा है, वे स्वयं अपनी पूजा हमसे कराना चाहते हैं, जिससे हमारी भलाई हो । यों सोचकर ऐसे अवसरोंको छोड़ना नहीं चाहिये । ये ही जीवनको सँवारते हैं ।

मेरी दृष्टिमें पूजा कोई एकाध घंटेकी आराधना जप-कीर्तन, मन्दिर-गमनकी प्रक्रिया ही नहीं है, वरं वह प्रत्येक पलमें, प्रत्येक कार्यमें प्रभुकी झलक मिलनेमें है । मुझे एक बात याद आ रही है । मेरी माताजी प्रतिदिन पूजा करती हैं—घंटों बैठती हैं, व्रत, उपवास, त्योहारोंका ताँता लगा रहता है । मुझे भी हँसी-मजाकके लिये खूब समय मिल जाता है तथा मैं उन्हें कहा करता हूँ 'माँ, तुम्हारे ठाकुर ही सब गड़बड़ी कर रहे हैं, वे ही तुम्हें हमारी सेवासे विमुख रखते हैं । देखो न ! मैं तो यहाँ जीवित भगवान् खड़ा हूँ और तुम मूर्ति पूज रही हो । एक दिन उन्हें ले जाकर पोखरेमें डुबा आऊँगा, तो सब ठीक हो जायगा ।' कभी-कभी मुझे उनकी पूजाका अवसर मिलता तो मैं माँसे कहता—'देखो भई ! यदि तुम्हारे ठाकुरजीको आज नहाना-खाना और आराम करना हो तब चलें । मेरे साथ तालाबमें नहावें, फिर मेरे साथ साथ दें रसोई बनानेमें । तब कहीं भोजन मिलेगा । यह क्या कि खटोलेपर बैठे-बैठे आलसी बने रहते हैं । मैं दो-चार दिनोंमें ही सब दण्ड-बैठक करवा दूँगा ।' तब माँ कहती-'तुम्हारी

पूजा-सेवा तो मैं रोज ही हर पल करती रहती हूँ, एक-दो घंटे इन्हें भी कर दूँ तो क्या ? और जाओ लिवा जाओ नहानेके लिये, कहो खाना बनानेके लिये—सब तो वही कर रहे हैं तुम्हें दिखता न होगा।' यह सब सुनकर मैं गद्गद हो जाता हूँ। माँके लिये हर काम पूजा है, मैंने सब उन्हींसे सीखा है।

प्रत्येक वस्तुकी पूजा उनके उचित संरक्षण तथा उपयोगसे है। बस, भावनाकी समता चाहिये। ऊपरी व्यवहारमें समता कैसे हो सकती है ? जहाँ जूतेकी पूजा उसे साफ रखने, उसपर रंग लगा उसको चमकाने तथा पैरोंमें पहनकर उपयोग करनेमें है, वहीं कलमकी पूजा उससे सुन्दर तथ्योंको लिखनेमें है। यही भगवद्भक्ति भी है। निश्चित है कि जो व्यक्ति इस भावनासे अपने सब काम करता है तथा जो बिना इस भावनाके करते हैं; उनमें रहन-सहन, खान-पान, मानसिक स्थिति, विचार, व्यवहार आदिकी दृष्टिसे एक बड़ी खाई होगी। सच तो यह है कि आध्यात्मिक भावनाके बिना भौतिक रहन-सहन भी विषमय हो जाता है, उसमें जीवनका आनन्द मिलनेके बदले जीवनका बोझ ढोना पड़ता है तथा प्रसन्नता तो दूर उलटे अशान्ति ही मिलती है।

हमारा प्रत्येक कार्य प्रभुमय हो, पूजामय हो। हमारा बैठना प्रभुका आसन हो, स्नान करना प्रभुको स्नान कराना हो, पहनना उन्हें ही पहनाना हो, सजना उन्हें ही सजाना हो, घूमना उनकी ही प्रदक्षिणा हो, प्रकाश करना उनके लिये दीप जलाना हो ताकि दूसरे स्पष्टतः उन्हें देख सकें; हमारा भोजन करना उन्हें भोजन कराना हो आदि-आदि। यदि ऐसा हो जायगा तब जो चीज प्रभुको दी न जा सकेगी, उसे हम भी ग्रहण नहीं कर पायेंगे तथा अनेकों शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक दुःखोंसे, दुश्चिन्ताओंसे स्वभावतः मुक्ति पा जायँगे। ऐसा इसलिये होगा कि अखाद्य ग्रहण न करेंगे, अवस्त्र न पहनेंगे, दुर्वचन न बोलेंगे, अपठनीय न पढ़ेंगे, कुत्सित न देखेंगे, न सुननेयोग्य न सुनेंगे, न स्पर्श करनेयोग्य स्पर्श न करेंगे, अपशब्द न कहेंगे और न अश्लील सोचेंगे। इन्हीं कारणोंसे ही तो हमारी प्रगति रुकी हुई है। हम आरामके नामपर रोग-कलह, राग-द्वेष, भय-विषाद काम-क्रोध, लोभ आदिको बुलावा देते हैं और सबसे दुःखकी बात तो यह है कि इन्हें ही हमने आज संस्कृति-सभ्यता समझ रक्खा है। इन बातोंकी क्या प्रभु-पूजाकी भावनासे कोई तुलना है ? तब जब हमारा सुख-सूत्र हमारे हाथोंमें हो, हम दुःख क्यों पायें, यदि पायें भी तो दोष दूसरोंको क्यों दें !

अधर्मसे समूल नाश

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥

(मनुस्मृति ४। १७०—१७२)

जो अधर्म करता है, झूठ ही जिसका धन है (जो झूठके द्वारा धन कमाता है) और जो दूसरोंको पीड़ा पहुँचाता है, वह इस लोकमें सुखको नहीं प्राप्त होता (दिन-रात जलता ही रहता है)। अधर्ममें लगे हुए पापियोंके (सुख-समृद्धिका) शीघ्र ही विपर्यय (नाश एवं उन्नतिकी जगह अवनति, सुखकी जगह दुःख होते) देखकर मनुष्य धर्मपालनमें कष्ट सहता हुआ भी कभी अधर्ममें प्रवृत्त न हो। किया हुआ अधर्म (कभी-कभी सुख-भोगका प्रारब्ध होनेपर) भूमि या गौके समान तत्काल फल नहीं देता, किंतु धीरे-धीरे फलकी ओर बढ़ता हुआ अन्तमें उस अधर्म करनेवालेकी जड़ ही काट देता है।

सफलता पानेके कुछ साधन

(स्वामी श्रीरामतीर्थजीका संदेश)

[महान् विभूति स्वामी रामतीर्थ प्रायः अपने प्रवचनोंमें कहा करते थे कि व्यक्तिकी इच्छाएँ ही उसके दुःखका कारण होती हैं । सच्चा आनन्द तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य अपनी इच्छाओंपर विजय पा लेता है । स्वामीजीने इच्छाओंको त्यागकर अनन्त सुखको प्राप्त कर लिया था । वे अपनेको 'राम बादशाह' कहा करते थे । अमेरिकामें एक बार आपने कहा था—'संसारका सारा धन रामका है, उसे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वह सम्राटोंका सम्राट् है ।' स्वामीजीके शब्दकोषमें 'असम्भव' शब्दके लिये कोई स्थान नहीं था । व्यक्ति जीवनमें किस प्रकार सफलता प्राप्त कर सकता है, इसके लिये उन्होंने कुछ साधन बताये हैं । स्वामीजीके शब्दोंमें वे इस प्रकार हैं—]

परिश्रम—

दीपकके आलोकका रहस्य इस बातमें निहित है कि वह अपने आलोकको बनाये रखनेके लिये अपनी बाती एवं तेल जलाता रहता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने शरीरका तेल जलाते हैं अर्थात् कठिन परिश्रम करते हैं, वे निश्चय ही जीवनमें सफलता प्राप्त करते हैं । हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये कि संघर्ष ही जीवन है और निष्क्रियता मृत्युका दूसरा नाम है । सरोवरके स्थिर जल और कलकल करती-प्रवाहित नदीके जलमें कितना अन्तर होता है । प्रवाहित नदीका जल निर्मल, आकर्षक एवं स्वादिष्ट होता है, जब कि सरोवरका स्थिर जल मलिन, दुर्गन्धयुक्त एवं स्वादरहित । यदि आप जीवनमें सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो नदीकी भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहिये । परिश्रम ! परिश्रम !! परिश्रम !!! यही सफलताका प्रथम मन्त्र है ।

त्याग एवं बलिदान—

जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हृदयमें त्याग एवं बलिदानकी भावना होनी चाहिये । यदि आप कुछ पाना चाहते हैं तो देना सीखिये । एक बीजको एक विशाल वृक्ष बननेके लिये अपने-आपको मिटना पड़ता है । सम्पूर्ण आत्म-बलिदानका परिणाम फल होता है ।

गहरी लगन—

किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें गहरी लगनका होना आवश्यक है । अपने-आपको पूरी तरह भूलकर कार्यमें खो जाइये । निश्चय ही आपको कार्यमें सफलता मिलेगी । यदि आप विचार कर रहे हैं तो स्वयं विचार बन जाइये । यदि आप कार्य कर रहे हैं तो स्वयं कार्य बन जाइये । सफलता आपके पाँव चूमेगी ।

स्नेह एवं सहानुभूति—

दूसरोंके प्रति आपके हृदयमें स्नेह एवं सहानुभूति होनी चाहिये । जब आप किसीको प्यार देंगे तो दूसरा भी आपपर प्यार लुटायेगा । स्नेह देना और स्नेह पाना सफलताका चौथा सिद्धान्त है ।

प्रफुल्लता—

प्रत्येक दशामें प्रसन्नचित्त रहना सफलताका पाँचवाँ सिद्धान्त है । आपके खिलते हुए मुखपर मुसकराहट देखकर मुझे प्रसन्नता होती है, आप मुसकराते हुए पुष्प हैं । आप मानवताके मुसकराते हुए अङ्कुर हैं, आप प्रफुल्लताके प्रतीक हैं और मैं चाहूँगा कि आप जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रसन्नचित्त रहें । कार्यके लिये कार्य करिये । भूत एवं भविष्यकी चिन्ता किये बिना पूरी लगनसे कार्य करिये । निश्चय ही इस प्रकारकी चित्तवृत्ति आपको हर समय प्रफुल्लता प्रदान करेगी ।

निर्भयता—

भीरुता मृत्युके समान है । अतः इससे अपनेको दूर रखिये । निर्भय व्यक्ति असम्भवको सम्भव बना

सकता है। आपकी साहसपूर्ण दृष्टि शेरतकको वशमें कर सकती है। बड़े-से-बड़े शत्रुको शान्त कर सकती है। हिमालयके घने वनोंमें मैंने भ्रमण किया है। चीते, रीछ, भेड़िये-जैसे ख़ूँखार जानवरोंसे सामना हुआ है। परस्पर नजरें मिली हैं, किंतु वे बिना कोई हानि पहुँचाये मेरे पाससे निकल गये हैं। याद रखिये—निडरता एवं साहसके सामने बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी नहीं टिक सकती।

आत्मविश्वास—

सफलताका मूलाधार आत्मविश्वास एवं आत्म-निर्भरता है। यदि कोई मुझसे सफल-जीवनकी परिभाषा पूछे तो मेरा उत्तर होगा आत्मविश्वास एवं आत्मज्ञान। भगवान् उन्हींकी सहायता करते हैं जो अपनी सहायता आप करते हैं। व्यक्ति स्वयं भगवान् है, यह सिद्ध किया जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

[प्रेषक—श्रीतिलकराजजी गोस्वामी एम्० ए०]

कौआ चले जब हंसकी चाल

(लेखक—श्रीकौटिल्यजी उदियानी)

पूर्वमें लालिमा बिखेरते हुए सूर्य उदय हुआ। कुछ शुद्ध श्वेतवर्णयुक्त मानसरोवरके राजहंस दीर्घ यात्रासे थके-चुके एक वृक्षके नीचे विश्रान्तिके उद्देश्यसे आ बैठे। डालपर एक कौआ बैठा था। हंसोंको वहाँ विश्रान्ति पाते देख वह काँव-काँव करके फुदकने लगा—'अरे, तुम कौन हो? यहाँ क्यों विश्राम कर रहे हो? यह वृक्ष क्या तुम्हारे बापका है, जो आते ही पसर गये?'

परंतु हंस आरामसे बैठे थकान उतारते रहे। उन्होंने कौएकी बातका कोई उत्तर नहीं दिया और न उसकी उद्दण्डताका बुरा ही माना।

उत्तर प्राप्त न कर कौआ फिर तेजीसे काँव-काँव करने लगा—'अरे, बोलते क्यों नहीं हो, मुँहमें क्या वाणी नहीं है?'

मन्द-मन्द मुसकराते हुए हंसोंने परस्पर संकेतकी भाषामें न जाने क्या बातचीत की। आखिर कौएके कर्कश स्वरसे छुटकारा पानेके लिये एक हंस बोल ही पड़ा—'हम मानसरोवरके राजहंस हैं। दीर्घ पथकी यात्रासे बेहद थक गये हैं; इसलिये कुछ समयके लिये यहाँ बैठकर विश्रान्ति ले रहे हैं। आप चिन्ता न करें, हम शीघ्र ही यहाँसे चले जायँगे।'

'तो कुछ उड़ना-उड़ाना भी जानते हो, या यों ही इतने बड़े पंख लिये बैठे हो?' कुछ देर रुककर कौएने घमंडसे पूछा। अपनी वाचालताके कारण बात तो उसको किसी-न-किसी तरह जारी रखनी ही थी।

लगता था, हंस काफी थके थे। वह कौएकी ओर टकटकी लगाये अवाक् बैठे रहे। उसकी बातका उन्होंने इस बार भी कोई उत्तर नहीं दिया।

वाचाल कौआ भी जल्दी हार माननेवालोंमेंसे न था। तुरंत उसने अपना स्थान त्यागा और वृक्षके आसपास उड़ने लगा। हंस उसके व्यवहारसे मन-ही-मन हँस रहे थे और टकटकी बाँधे उसकी नादान हरकतको निरख रहे थे। कौएको यह सब बहुत बुरा लगा—'इस प्रकार घूर-घूरकर क्यों देख रहे हो? उड़ना जानते हो, तो आ जाओ मैदानमें।'

इस बार भी हंसोंमेंसे किसीने कुछ उत्तर न दिया और न कोई प्रतिस्पर्धाके लिये ही आगे आया। सब गुमसुम पड़े रहे, शायद इस आशामें कि बेवकूफ बकबकाकर अपने-आप चुप हो जायगा।

कौएने भी अपना आखिरी अस्त्र फेंका। उन्हें धिक्कारते हुए वह बोला और डालकी ओर अपना रुख मोड़ दिया—'दीखते तो छैलछबीले हो।

सफलता पानेके कुछ साधन

(स्वामी श्रीरामतीर्थजीका संदेश)

[महान् विभूति स्वामी रामतीर्थ प्रायः अपने प्रवचनोंमें कहा करते थे कि व्यक्तिकी इच्छाएँ ही उसके दुःखका कारण होती हैं। सच्चा आनन्द तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य अपनी इच्छाओंपर विजय पा लेता है। स्वामीजीने इच्छाओंको त्यागकर अनन्त सुखको प्राप्त कर लिया था। वे अपनेको 'राम बादशाह' कहा करते थे। अमेरिकामें एक बार आपने कहा था—'संसारका सारा धन रामका है, उसे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वह सम्राटोंका सम्राट् है।' स्वामीजीके शब्दकोषमें 'असम्भव' शब्दके लिये कोई स्थान नहीं था। व्यक्ति जीवनमें किस प्रकार सफलता प्राप्त कर सकता है, इसके लिये उन्होंने कुछ साधन बताये हैं। स्वामीजीके शब्दोंमें वे इस प्रकार हैं—]

परिश्रम—

दीपकके आलोकका रहस्य इस बातमें निहित है कि वह अपने आलोकको बनाये रखनेके लिये अपनी बाती एवं तेल जलाता रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने शरीरका तेल जलाते हैं अर्थात् कठिन परिश्रम करते हैं, वे निश्चय ही जीवनमें सफलता प्राप्त करते हैं। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये कि संघर्ष ही जीवन है और निष्क्रियता मृत्युका दूसरा नाम है। सरोवरके स्थिर जल और कलकल करती-प्रवाहित नदीके जलमें कितना अन्तर होता है। प्रवाहित नदीका जल निर्मल, आकर्षक एवं स्वादिष्ट होता है, जब कि सरोवरका स्थिर जल मलिन, दुर्गन्धयुक्त एवं स्वादरहित। यदि आप जीवनमें सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो नदीकी भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहिये। परिश्रम! परिश्रम!! परिश्रम!!! यही सफलताका प्रथम मन्त्र है।

त्याग एवं बलिदान—

जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हृदयमें त्याग एवं बलिदानकी भावना होनी चाहिये। यदि आप कुछ पाना चाहते हैं तो देना सीखिये। एक बीजको एक विशाल वृक्ष बननेके लिये अपने-आपको मिटना पड़ता है। सम्पूर्ण आत्म-बलिदानका परिणाम फल होता है।

गहरी लगन—

किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें गहरी लगनका होना आवश्यक है। अपने-आपको पूरी तरह भूलकर कार्यमें खो जाइये। निश्चय ही आपको कार्यमें सफलता मिलेगी। यदि आप विचार कर रहे हैं तो स्वयं विचार बन जाइये। यदि आप कार्य कर रहे हैं तो स्वयं कार्य बन जाइये। सफलता आपके पाँव चूमेगी।

स्नेह एवं सहानुभूति—

दूसरोंके प्रति आपके हृदयमें स्नेह एवं सहानुभूति होनी चाहिये। जब आप किसीको प्यार देंगे तो दूसरा भी आपपर प्यार लुटायेगा। स्नेह देना और स्नेह पाना सफलताका चौथा सिद्धान्त है।

प्रफुल्लता—

प्रत्येक दशामें प्रसन्नचित्त रहना सफलताका पाँचवाँ सिद्धान्त है। आपके खिलते हुए मुखपर मुसकराहट देखकर मुझे प्रसन्नता होती है, आप मुसकराते हुए पुष्प हैं। आप मानवताके मुसकराते हुए अङ्कुर हैं, आप प्रफुल्लताके प्रतीक हैं और मैं चाहूँगा कि आप जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रसन्नचित्त रहें। कार्यके लिये कार्य करिये। भूत एवं भविष्यकी चिन्ता किये बिना पूरी लगनसे कार्य करिये। निश्चय ही इस प्रकारकी चित्तवृत्ति आपको हर समय प्रफुल्लता प्रदान करेगी।

निर्भयता—

भीरुता मृत्युके समान है। अतः इससे अपनेको दूर रखिये। निर्भय व्यक्ति असम्भवको सम्भव बना

सकता है। आपकी साहसपूर्ण दृष्टि शेरतकको वशमें कर सकती है। बड़े-से-बड़े शत्रुको शान्त कर सकती है। हिमालयके घने वनोंमें मैंने भ्रमण किया है। चीते, रीछ, भेड़िये-जैसे खूँखार जानवरोंसे सामना हुआ है। परस्पर नजरें मिली हैं, किंतु वे बिना कोई हानि पहुँचाये मेरे पाससे निकल गये हैं। याद रखिये—निडरता एवं साहसके सामने बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी नहीं टिक सकती।

आत्मविश्वास—

सफलताका मूलाधार आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता है। यदि कोई मुझसे सफल-जीवनकी परिभाषा पूछे तो मेरा उत्तर होगा आत्मविश्वास एवं आत्मज्ञान। भगवान् उन्हींकी सहायता करते हैं जो अपनी सहायता आप करते हैं। व्यक्ति स्वयं भगवान् है, यह सिद्ध किया जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

[प्रेषक—श्रीतिलकराजजी गोस्वामी एम्० ए०]

कौआ चले जब हंसकी चाल

(लेखक—श्रीकौटिल्यजी उदियानी)

पूर्वमें लालिमा बिखेरते हुए सूर्य उदय हुआ। कुछ शुद्ध श्वेतवर्णयुक्त मानसरोवरके राजहंस दीर्घ यात्रासे थके-चुके एक वृक्षके नीचे विश्रान्तिके उद्देश्यसे आ बैठे। डालपर एक कौआ बैठा था। हंसोंको वहाँ विश्रान्ति पाते देख वह काँव-काँव करके फुदकने लगा—'अरे, तुम कौन हो? यहाँ क्यों विश्राम कर रहे हो? यह वृक्ष क्या तुम्हारे बापका है, जो आते ही पसर गये?'

परंतु हंस आरामसे बैठे थकान उतारते रहे। उन्होंने कौएकी बातका कोई उत्तर नहीं दिया और न उसकी उद्दण्डताका बुरा ही माना।

उत्तर प्राप्त न कर कौआ फिर तेजीसे काँव-काँव करने लगा—'अरे, बोलते क्यों नहीं हो, मुँहमें क्या वाणी नहीं है?'

मन्द-मन्द मुसकराते हुए हंसोंने परस्पर संकेतकी भाषामें न जाने क्या बातचीत की। आखिर कौएके कर्कश स्वरसे छुटकारा पानेके लिये एक हंस बोल ही पड़ा—'हम मानसरोवरके राजहंस हैं। दीर्घ पथकी यात्रासे बेहद थक गये हैं; इसलिये कुछ समयके लिये यहाँ बैठकर विश्रान्ति ले रहे हैं। आप चिन्ता न करें, हम शीघ्र ही यहाँसे चले जायँगे।'

'तो कुछ उड़ना-उड़ाना भी जानते हो, या यों ही इतने बड़े पंख लिये बैठे हो?' कुछ देर रुककर कौएने घमंडसे पूछा। अपनी वाचालताके कारण बात तो उसको किसी-न-किसी तरह जारी रखनी ही थी।

लगता था, हंस काफी थके थे। वह कौएकी ओर टकटकी लगाये अवाक् बैठे रहे। उसकी बातका उन्होंने इस बार भी कोई उत्तर नहीं दिया।

वाचाल कौआ भी जल्दी हार माननेवालोंमेंसे न था। तुरंत उसने अपना स्थान त्यागा और वृक्षके आसपास उड़ने लगा। हंस उसके व्यवहारसे मन-ही-मन हँस रहे थे और टकटकी बाँधे उसकी नादान हरकतको निरख रहे थे। कौएको यह सब बहुत बुरा लगा—'इस प्रकार घूर-घूरकर क्यों देख रहे हो? उड़ना जानते हो, तो आ जाओ मैदानमें।'

इस बार भी हंसोंमेंसे किसीने कुछ उत्तर न दिया और न कोई प्रतिस्पर्धाके लिये ही आगे आया। सब गुमसुम पड़े रहे, शायद इस आशामें कि बेवकूफ बकबकाकर अपने-आप चुप हो जायगा।

कौएने भी अपना आखिरी अस्त्र फेंका। उन्हें धिक्कारते हुए वह बोला और डालकी ओर अपना रुख मोड़ दिया—'दीखते तो छैलछबीले हो।

नहीं आती, इतने बड़े पंख लेकर भी उड़ना नहीं जानते ? अगर हिम्मत है, तो अब भी आ जाओ मैदानमें। देख लेता हूँ कि कितने पानीमें हो ?'

कौएको पुनः डालपर बैठते देख आखिर एक हंस मन्द-मन्द मुसकराता हुआ सामने आ ही गया और व्याज-स्तुतिके स्वरमें बोला—'भाई! तुम्हें तो अनेकों प्रकारकी उड़ानें आती हैं; उतनी तो मैं नहीं जानता, पर एक उड़ान मैं अवश्य जानता हूँ। चाहो तो आ जाओ।'

'छिः छिः, केवल एक ही।' कौआ हंसको लज्जित करनेके उद्देश्यसे बोला। 'तब तुम मेरे सामने क्या उड़ सकोगे ?.........अच्छा चलो, तुम्हारी एक ही उड़ान देख लेता हूँ।'

प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई। कौआ वेगपूर्वक और हंस अपनी स्वाभाविक मन्द गतिसे आकाशमें उड़ने लगा। नदीकी तरङ्गोंके ऊपर उड़ान आरम्भ थी। दोनों अनवरत बड़ी दूरतक उड़ते चले गये। दूर, बहुत दूरतक; मानो दिगन्तको ही लाँघ डालेंगे। आखिरकार अस्वाभाविक गतिसे चलनेवाला कौआ थककर चूर-चूर हो गया। उसकी साँस फूलने लगी। अपनी स्थितिको छिपानेकी नीयतसे वह हंससे बोला—'अब तो तुम थक गये मालूम होते हो। तभी तो मन्दगतिसे चल रहे हो। चलो लौट चलें।'

कौएकी दुर्दशा हंससे छिपी न रह सकी। वह उसकी क्षण-क्षण मन्द पड़ती जा रही गति बड़े ध्यानसे निरख रहा था। यही तो समय था उसे मजा चखानेका। बहुत ही शान्त स्वरमें हंसने कौएको उत्तर दिया—'तुम मेरी चिन्ता मत करो, अपना सँभालो। मैं तो अभी दसगुना और चल सकता हूँ। चले चलो अब तो।'

कौआ बार-बार कोई-न-कोई बहाना बनाकर वापस हो जानेके लिये कहता; परंतु हंस अपनी बातपर अन्ततक अड़ा रहा। वह वापस जानेके लिये नहीं माना। थककर चूर-चूर हुए कौएका दम फूलने लगा। पंख पानीकी सतहका आलिङ्गन करते हुए भीग गये। हंसको बिना प्यासके नीर पीते हुए कौएपर दया आ गयी और तत्काल उसे अपनी पीठपर बिठाकर वह वृक्षकी ओर चल पड़ा। वृक्षके नीचे पहुँचकर कौआ काँव-काँव करता हुआ हंसकी पीठसे उड़कर डालपर जा बैठा और उसने हंसोंपर चिरक दिया।

कुछ समय पश्चात् राजहंस अपनी लक्ष्य-दिशाकी ओर चल पड़े।

(संस्कृतकी एक लोककथापर आधारित)

सबमें भगवान् समझकर सबकी सेवा करो

रहो सदा पर-हित-निरत, करो न पर-अपकार।
सबके सुख-हितमें सदा, समझो निज उपकार॥
सबमें हैं श्रीहरि बसे, यह मन निश्चय जान।
यथाशक्ति सेवा करो सबकी, तज अभिमान॥
हरिकी ही सब वस्तु हैं, हरिके ही मन-बुद्धि।
हरिकी सेवामें लगा, करो सभीकी शुद्धि॥

कुमारी शुक्लाके पुनर्जन्मका वृत्तान्त

(लेखक—श्रीप्रकाशजी गोस्वामी, शोध-सहायक)

पश्चिमी बंगालके कम्पा नामक गाँवमें मार्च १९५४ में श्री के० एन० सेन गुप्ताके यहाँ एक कन्याका जन्म हुआ; जिसका नाम शुक्ला रक्खा गया। जब यह कन्या लगभग डेढ़ सालकी हुई और उसने बोलना प्रारम्भ ही किया तो पाया गया कि वह प्रायः लकड़ीकी एक चौखटको या फिर अपने तकियेको मीनू कहकर उनसे खेला करती थी। शुक्लाके और बड़े होनेपर जब-जब उससे पूछा जाता कि 'यह मीनू कौन है' तो उसका उत्तर होता कि 'मेरी बेटी'। उसके पश्चात् शनैः-शनैः उसने मीनूके बारेमें विस्तारसे बताना प्रारम्भ कर दिया और अपने पिछले जन्मके पतिके बारेमें बहुत-सी बातें बतायीं। ये बातें बताते वक्त जब-जब भी उसके पतिका जिक्र आता तो शुक्ला उसे 'वह' कहकर ही सम्बोधित करती। उसने बताया कि मीनू, मीनूके पति और उसके देवर खेतू और करुण भाटपाड़ामें रथतला नामक स्थानके रहनेवाले थे। भाटपाड़ा कम्पासे ११ मीलकी दूरीपर कलकत्ता जानेवाली सड़कपर स्थित है।

गुप्ता-परिवारको कम्पा गाँवके बारेमें मालूम अवश्य था, किंतु उन्हें भाटपाड़ाके रथतला गाँवके बारेमें किसी प्रकारकी सूचना न थी और न उन व्यक्तियोंके बारेमें उन्हें मालूम था जिनकी चर्चा कुमारी शुक्ला किया करती थी। शुक्लाके अंदर भी भाटपाड़ा जानेके प्रति लालसा बढ़ रही थी और वह कहने लगी थी कि यदि उसके परिवारवाले उसे न ले जा सके तो एक दिन वह स्वयं वहाँ चली जायगी। वह यह भी विश्वासके साथ कहने लग गयी थी कि यदि उसे रथतला ले जाया जाय तो निश्चित रूपसे अपनी ससुरालका रास्ता बतला सकेगी।

सन् १९५९ की गर्मियोंमें जब शुक्ला पाँच सालकी हुई, तब अपने परिवारके कुछ सदस्योंके साथ वह भाटपाड़ा गयी। वहाँ शुक्लाने आगे रहकर सभीको अपनी ससुरालका रास्ता बताया तथा वहाँकी कई वस्तुओंके बारेमें जानकारी दी तथा बहुतसे सम्बन्धित व्यक्तियोंको सहजरूपसे पहचान लिया। इस यात्राके बाद श्रीचक्रवर्ती तथा पाठक-परिवारके कुछ लोग कम्पा गाँवमें शुक्लाके घर आये और दोनों परिवारोंमें सम्पर्क स्थापित हुआ। अपने पूर्वपति श्रीहरिधन चक्रवर्ती तथा अपनी पुत्री मीनूसे मिल लेनेके बाद शुक्लाके मनमें उनके साथ रहनेकी तीव्र इच्छा जाग्रत् हो गयी और जब कभी किसी कारण हरिधन चक्रवर्ती उससे मिलने नहीं आ पाते तो शुक्लाको बड़ा क्लेश होता।

शुक्लाके वृत्तान्तकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें

शुक्लाके स्मरणके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं उसके द्वारा अपने परिवार, मकान तथा पति एवं पुत्रीके बारेमें विस्तृत जानकारी देना। शुक्ला अपने पति श्रीहरिधन चक्रवर्तीके साथ सिनेमा जानेकी बातका अत्यन्त स्पष्ट-रूपसे स्मरण करती है। शुक्लाके वृत्तान्तमें इस बात-का महत्त्व इसलिये है कि अपनी पूरी जिंदगीमें उसके लिये सिनेमा देखनेका यह पहला और आखिरी अवसर ही था। उसे सिनेमा भेजनेके पक्षमें उसके ससुरालवाले नहीं थे; क्योंकि जब वे लौटकर आये थे तो उसकी सौतेली सासने उसे अत्यन्त बुरा-भला भी कहा था।

मिस्टर पाल मामलेकी विस्तृत जानकारीके लिये जब शुक्लाको रथतला ले गये तो शुक्लाने बिना किसी हिचकके अपनी ससुरालका रास्ता पहचान लिया था। यद्यपि यह रास्ता सीधा था, फिर भी रास्तेके अंदर बहुत-सी गलियाँ थीं और एक ही तरहके बहुत-से मकान थे, लेकिन सीधा अपने उस मकानमें ही पहुँच जाना इस बातका स्पष्ट संकेत था कि शुक्लाकी अतिरिक्त चेतनामें पूर्वजन्मकी स्मृति थी। लेकिन शुक्ला जब अपनी ससुरालके करीब पहुँची थी तो उस मकानको देखकर एकबारगी वह ठिठक भी गयी थी।

इसका कारण तो यह था कि मनाकी मृत्युके बाद मकानका मुख्य दरवाजा बंद करवा दिया गया था और उसे एक तरफ भी करवा दिया गया था। इस प्रकार शुक्लाका पशोपेशमें पड़ना संगत था। मकानमें पहुँचते ही उसने सबसे पहले अपने पूर्वजन्मके श्वशुर श्रीयुत अमृतलाल चक्रवर्तीको पहचानकर शर्मसे आँखें झुका ली थीं। मीनूको देखकर तो उसकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। इसके बाद शुक्लासे जब बीस-तीस आदमियोंकी उपस्थितिमें यह पूछा गया कि क्या वह अपने पतिको पहचान सकती है तो उसने सहीरूपमें पहली ही बारमें हरिधन चक्रवर्तीको 'मीनूके पिता' कहकर पहचाना था। एक भारतीय पत्नीके लिये अपने पतिको सम्बोधित करनेका यही तरीका है। उसके बाद शुक्लाने खेतूको मीनूके चाचा कहकर तथा करुणको 'तूमी' यानी छोटे देवर कहकर सम्बोधित करके सभीको आश्चर्यमें डाल दिया था। घरमें करुणको 'तूमी' कहकर कोई नहीं बुलाता था, सभी उसे 'कुटी'के नामसे ही बुलाते थे। इस तरह शुक्लाने यहाँ एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातको उजागर किया था जिसे परिवारके लोगतक करीब भूल चुके थे। उसके पश्चात् अपनी सौतेली सास तथा अपने चचेरे भाई दिलीप पाठकको भी शुक्लाने पहचाना।

इसके बाद जब शुक्लाने मनाकी सिंगर-मशीन देखी और उसपर हाथ रक्खा तो उसकी आँखोंमें आँसू आ गये। मना इसी मशीनसे कपड़े सीनेका काम करती थी। जब शुक्ला वहाँसे लौटने लगी तो एक रुपया अपने पिताजीसे लेकर उसने मीनूको दिया जिससे वह मिठाइयाँ और गुड़िया खरीद ले।

इस अवसरके कुछ दिनों बाद एक दिन शुक्लाको खबर मिली कि मीनू भाटपाड़ामें बीमार पड़ी है। यह सूचना पानेपर वह रोने लगी और बार-बार मीनूके पास भाटपाड़ा ले जाये जानेका आग्रह करने लगी। रातभर वह मीनूकी चिन्तामें बेचैन रही। सुबह वहाँ ले जाये जानेके बाद जब उसने देखा कि मीनूकी तबीयत कुछ ठीक है, तब उसे शान्ति मिली।

इसी तरह एक दिन पाठक-परिवारकी स्त्रियोंने शुक्लाके यहाँ जाकर बहुत-सी बातें उससे पूछीं, मसलन कि उसके पतिको कौन-सा खाना सबसे अधिक प्रिय था तो शुक्लाने कहा था कि 'झीना-मछली'। जाँच करनेपर यह बात सही पायी गयी थी। यह पूछनेपर कि मृत्युके समय मनाने मीनूको किसके सहारे छोड़ा था तो उसने बताया कि भाभीके। मीनूके अलावा किसी अन्य संतानके बारेमें पूछे जानेपर उसने बताया था कि मीनूसे पहले भी उसके एक लड़का हुआ था लेकिन उसकी जल्दी ही मृत्यु हो गयी थी। उस समय उसकी अवस्था एक साल और तीन महीनेकी थी। उसने पाठक-परिवारकी स्त्रियोंको अपने हरिधन चक्रवर्तीके साथ खरगपुरके कलानन्दामें रहनेके बारेमें भी बताया था।

अपनी एक अन्य महत्त्वपूर्ण भाटपाड़ाकी यात्राके दौरानमें शुक्लाने पीतलके उन कलशोंको भी पहचाना था। जिनमें वह पानी लाया करती थी और उस स्थानको भी बताया जहाँ वह रसोई बनाती थी। इस यात्राके बाद शुक्लाका वहाँ आना-जाना इसलिये बंद हो गया; क्योंकि उसके कारण हरिधन चक्रवर्ती तथा उनकी पत्नीमें उसीको लेकर झगड़ा शुरू हो गया था।

परामनोविज्ञान-विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक रीतिसे पूर्वजन्मकी समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है। पूर्वजन्मकी घटनाकी वैज्ञानिक जाँच हो सके इसके लिये यह आवश्यक है कि पाठकोंद्वारा ऐसी घटनाओंकी अधिक-से-अधिक जानकारी विभागको भेजी जाय। पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर किया जा सकता है—

डा० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी, संचालक, परामनोविज्ञान-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, राजस्थान।

क्या बढ़ा और क्या बढ़ रहा है ?

[विकास कितना ! विनाश कितना !]

(संग्राहक और प्रेषक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश' साहित्यरत्न)

रेल, तार, टेलीफोन, नहर, पुल, सड़कें, मोटर, बस, ट्रक, टैक्टर, हवाई जहाज, बिजली, बड़े-बड़े मकान ।

संस्थाएँ, यूनियनें, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, सभासमितियाँ, व्याख्यानबाजी, समाचार-पत्र ।

अदालतें, पंचायतें, मुकदमे, पुलिस, अपराध, चोरी, डकैती, ठगी, बेईमानी, मार-पीट, झगड़े, खून ।

अस्पताल, औषधालय, दवाइयोंके कारखाने, विषमय दवाइयाँ, रोग, रोगी, आसक्ति, कामना, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य, छल-कपट, दंभ, द्वेष, वैर, अधिकार-लिप्सा, लालसा, अश्रद्धा, संदेह, आलस्य, प्रमाद, आडम्बर, दिखावा, अपवित्रता, फैशन, शौकीनी, विलासिता, आरामतलबी, अकर्मण्यता, मँहगी, बेकारी, भुखमरी !

गंदा साहित्य, गंदे गाने, गंदे चलचित्र, गंदे चित्र, गंदे पोस्टर और विज्ञापन, गंदे क्लब, गंदा वातावरण और गंदे विचार ।

भौतिकवाद, भोगवाद, जनतन्त्र-समाजवाद तथा साम्यवादके नामपर व्यक्तिवाद, हिंसावाद ।

अध्यात्म तथा ईश्वरमें उपेक्षा, धर्म तथा परलोकमें अविश्वास, धर्म-निरपेक्षताके नामपर अधार्मिकता, सुधारके नामपर अनर्गल आचरण ।

स्वेच्छाचार, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, मिथ्याचार, व्यभिचार, चोर-पूजा, व्यभिचार-पूजा, अनाचार-पूजा ।

स्वार्थपरता, शोक, भय, विषाद, चिन्ता, डाह, कूटनीति, धोखेबाजी, दल, दलबंदी, अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उच्छृङ्खलता, खण्डता, मनमाने विवाह, तलाक ।

हिंसा, पशु-पक्षी-हत्या, विज्ञान तथा औषधनिर्माणके लिये हिंसा, हिंसाके बड़े-बड़े कारखाने, उद्योगके नामपर बड़ी-बड़ी हिंसाकी योजनाएँ ।

अभक्ष्य-भोजन, अपेय पान, मद्यपान, उच्छिष्ट भोजन, दिखाऊ सफाई, अशुद्धि, साबुन, तेल, पाउडर, क्रीम, स्नो, लिपस्टिक ।

धर्मनिन्दा, शास्त्र-निन्दा, ईश्वर-निन्दा, देवनिन्दा, ब्राह्मणनिन्दा, पूर्वज-निन्दा, अपनी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति अश्रद्धा, गुरुजनोंकी अवज्ञा, माता-पिताका अनादर, सम्मान्योंका अपमान, अपूज्योंकी पूजा, पति-पत्नीमें कलह-द्वेष ।

प्रान्तजनित राग-द्वेष, भाषा-जनित राग-द्वेष, जाति-जनित राग-द्वेष, वादजनित राग-द्वेष, सम्प्रदाय-जनित राग-द्वेष, दल-जनित राग-द्वेष ।

मिलें, कारखाने, व्यापार-केन्द्र, बाजार, सरकारी उद्योग, छोटे-छोटे उद्योग, उद्योगोंका सरकारीकरण ।

लोभवृत्ति, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी, वस्तुओंमें मिलावट, धोखादेही, सरकारी महकमे, अधिकारी-कर्मचारी, शासनव्यय, कर्तव्यविमुखता, कामचोरी, सिनेमा, रेडियो, नाच-गान, कन्याओं और तरुणियोंका संस्कृति तथा कलाके नामपर नाच-गान, निर्लज्जताकी प्रवृत्ति, कुवासनाको प्रोत्साहन ।

धन, धन-लिप्सा, धनमदान्धता, धन-संग्रहवृत्ति, धनी-द्वेष, फिजूलखर्ची ।

सभी कार्योंमें सरकारी हस्तक्षेप, टैक्सोंकी सीमारहित भरमार, फलतः उनसे बचनेके लिये मिथ्याचारमें प्रवृत्ति !

विज्ञान, विनाशक शस्त्रास्त्र, प्रकृति-विजयकी प्रचेष्टा !

धर्म और समाज

(लेखक—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।
(वैशेषिकदर्शन २)

जिससे अभ्युदय (तत्त्वज्ञान) और मोक्ष मिले वही धर्म है।

प्रश्न—इससे सिद्ध होता है कि धर्म तत्त्वज्ञान और मोक्षके लिये आवश्यक है, लोककार्यके लिये उसकी आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर—नींवके बिना विशाल भवनका निर्माण नहीं हो सकता । बिना रससंयुक्त मूलके फल-फूलयुक्त वृक्षकी परिस्थिति नहीं रह सकती । उसी प्रकार बिना धर्मके किसी भी लौकिक कार्यमें चिर सफलता नहीं मिल सकती । 'धर्म' बिजलीके लिये 'लोक' बिजलीघर है और नगर ऊर्ध्वलोक है । लोक ही तो धर्मकी उत्पत्तिका स्थान है ।

प्रश्न—धर्म है क्या पदार्थ, जो जीवनमें अनिवार्य माना जाता है ?

उत्तर—जैसे शरीरमें प्राण, पवनमें गमनशक्ति, वैसे ही मानवसमाजके लिये धर्म है ।

पूर्वकालमें हिरण्यकशिपुका राज्य धर्मनिरपेक्ष था; क्योंकि उसके राज्यमें अनेक धर्मावलम्बी थे और वे एक दूसरेके साथ स्व-धर्मको श्रेष्ठतम मनानेके लिये लड़ते-झगड़ते थे, तब शासकने निश्चय किया कि धर्मका कारण ईश्वर है । उसके न माननेसे धर्मका कोई नाम न लेगा; अतः उसकी ऐसी ही राजाज्ञा प्रचलित हो गयी । परिणाम यह हुआ कि उसके राज्यमें जलप्लावन, दुर्भिक्ष, महान् अनर्थता, संक्रामक रोग, अग्निकाण्ड, राजविग्रह, कलह आदि फैल गये, जिससे प्रजा महान् पीड़ित हुई ।

प्रश्न—शासकने परस्पर विग्रह बचानेके लिये धर्मपालनको बंद किया था । उसका विचार तो शुद्ध था, फिर राज्यमें ऐसे उपद्रव क्यों हुए ?

उत्तर—यदि किसी मनुष्यका श्वास लेना बंद कर दिया जाय तो क्या वह जीवित रह सकेगा ? इसी प्रकार एक धर्म ही है, जो सब तत्त्वोंका संचालन करता है और जहाँ वह धर्म नहीं रहता, वहाँ तत्त्वोंकी गति अनियमित हो जाती है । इसीसे अनेक प्रकारके उपद्रव होते हैं । इतना ही नहीं, मनुष्यका स्वभाव रजोगुणी और तमोगुणी हो जाता है। जिससे उसके हृदयमें कामादि षट् विकारोंका पूर्ण विकास हो जाता है ।

प्रश्न—इंगलैंड और अमेरिका भी धर्मनिरपेक्ष राज्य हैं। वे तो बड़े सुखी कहलाते हैं ?

उत्तर—उन दोनों देशोंका शासन क्रिश्चियन धर्मानुसार होता है । इंगलैंडमें जब बादशाह गद्दीपर बैठता है तब कंटेनबरीका बड़ा पादरी सबसे पहले बादशाहके सिरपर राजमुकुट धरकर उसका अभिषेक करता है । प्रत्येक सेनामें एक धर्माचार्य नियत रहता है, जो ईसाई-धर्मानुसार ईश्वरकी प्रार्थना योद्धाओंसे कराता है । विगत महासमरमें गिर्जाघरोंमें ईश्वरकी प्रार्थना विजयार्थ की जाती थी । अमेरिका भी ईसाई-धर्मानुसार शासन करता है ।

जब श्रीनेहरूजी प्रथम अमेरिका पधारे थे, तो वहाँके प्रेसीडेंटने भेंट करनेके समय बाइबिलकी पुस्तक समर्पित की थी कि वह देश धार्मिक है ।

पार्लमेन्टके सदस्योंको ईश्वरकी शपथ लेनी पड़ती है ।

प्रश्न—वहाँ ईसाई-धर्म एक है, उनको सुविधा है, परंतु जिन देशोंमें अनेक विभिन्न धर्मावलम्बी हों, उनके प्रशासकोंके लिये बड़ी कठिनता है, किस धर्मको मानें किसको न मानें । जिसको न मानें, उसके अनुयायी विरोधी बन जायँगे । इसलिये वे किसी भी धर्मको नहीं मानना ही उत्तम समझते हैं ।

उत्तर—जिस धर्मके माननेवाले अधिक लोग जिस राज्यमें होते हैं, वहाँका वही राजधर्म होता है । इंगलैंड-अमेरिकामें सहस्रों अन्यधर्मावलम्बी हैं । उनके धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जाता । उसीके साथ राजधर्म ईसाई है ।

प्रश्न—विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुगामी परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं, इसके बचावके लिये धर्म-निरपेक्षताका सहारा शासन लेता है ।

उत्तर—सम्प्रदायके नामसे जो लोग बिचकते हैं वे स्वयं सम्प्रदायसे दूर नहीं हैं । मानव-समाजका प्रत्येक समुदाय (Group) मत अथवा धर्मके नामसे पुकारा जाता है, उससे सम्बन्धित सारा मानव-समाज है और सम्प्रदायको

हौवा समझनेवाले भी तो किसी मतके ही होंगे। तब वे भी साम्प्रदायिक अवश्य हैं।

प्रत्येक धर्म (मत) में विभिन्न समुदाय होते हैं। उन्हींको सम्प्रदाय कहते हैं। जैसे हिंदूधर्ममें वैष्णव, शैव, शाक्त, रामानन्दी, रामदासी आदि हैं। उसी प्रकार अन्य मतोंमें भी विभिन्न सम्प्रदाय हैं। ऐसे किसी आचार्यने दूसरे सम्प्रदायवालेसे लड़नेका विधान नहीं बनाया, वरं सबसे प्रेम करनेका उपदेश दिया है।

सम्प्रदायका पर्याय शब्द आम्नाय है और आम्नाय वैशेषिकमें वेदके लिये आया है।

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्। (वैशेषिक २)

वेदमें धर्मका निरूपण किया गया है। अतः उसकी सिद्धि निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण वेदसे होती है।

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी······आम्नायः सम्प्रदायः इत्यमरः।

गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेशका नाम सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय तो धर्मसे सम्बन्धित है और धर्म ईश्वरकी प्राप्तिका ज्ञान देता है, तब सम्प्रदायका क्या दोष है, जिसके नामसे मनचले नक़लची हवामें उड़नेवाले लोग बिगड़ते हैं? मार्गमें लम्बी रस्सी पड़ी हो, यात्री उसे साँप समझे और वह भागे तब उसके पैरमें ठेस लग जाय और उसे कष्ट हो तो ऐसा उसके अज्ञानसे ही तो हुआ। रस्सी न हिली न डोली।

जितने आस्तिक मत हैं, सब एक ईश्वरके माननेवाले हैं, सबकी शिक्षा सत्य, प्रेम, परोपकार एवं मिलाप करनेकी है। गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, हिरन आदि पशुगण अपना समाज बनाये वनमें एक साथ चरते हैं; परंतु मनुष्य अन्य धर्मावलम्बीको उसी ईश्वरका प्रेमी नहीं मानता, जिसकी भक्ति-भावमें वह लगा है; क्योंकि वह अपने ईश्वरको अपने ही अल्प मतका स्वामी समझता है। शेष अन्य मतवालोंका कोई दूसरा ईश्वर मानता होगा। यदि ऐसा नहीं है तो विभिन्न जड पशुओंमें तो मिलाप रहे और सज्ञान मनुष्य एक-दूसरे मतवालोंके साथ ईर्ष्या और द्वेष क्यों रक्खे।

प्रश्न—मनुष्य तो चेतन जीवोंमें श्रेष्ठ है। उसको ऐसा अज्ञान क्यों होता है? पहाड़ पत्थररूप है, प्रस्तरकी कठोरतासे उसपर तृण भी नहीं जम पाता। दूसरी ओर मैदानमें सघन वृक्षावली और कहीं शून्य स्थल ऊसर है जहाँ तृण भी नहीं जमता। अतः पशु आदिमें सीमित ज्ञान है और मनुष्यमें दोनों प्रकारके गुणावगुण हैं।

उत्तर—जैसे किसी नदीके एक तटपर सघन विविध अमरावली स्थित है और दूसरे तटमें बालूका ढेर और बिना घासका सूखा मैदान है। अर्थात् मनुष्यके ज्ञानके दो विभाग हैं—अविद्या और विद्या। अविद्या संसारका प्रदर्शन करती है और विद्या परमार्थका। जिन देशोंका उद्देश्य सांसारिक उन्नति ही है वे जल-जन्तुके समान हैं। वे समुद्र अथवा अन्य जलाशयमें ही रहना चाहते हैं।

प्रश्न—समुद्र और अन्य जलाशयका क्या मतलब है?

उत्तर—समुद्ररूपी गृहस्थी है और अन्य जलाशय अगृहस्थ कुटीचर हैं।

प्रश्न—तब कोई अज्ञानके बाहर नहीं जा सकता।

उत्तर—कच्छप सर्प, भैंस जीव, जल और थल दोनोंमें रहते हैं, विशेषकर भैंस-थलमें और गौणरूपमें जलमें रहती है। हृदयमें काम-क्रोधादिका शमन हो जाता है, तब विद्याका विकास होता है।

प्रश्न—सांसारिक ऐश्वर्य-प्राप्तिका कारण पुण्य ही समझना चाहिये? अतएव यूरोप-निवासी ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, तो वे पुण्यवान् हैं।

उत्तर—एक बहुत-से तल्लोंका मकान है, नीचेके तल्लेमें जो निवास करते हैं, उनको स्वच्छ वायु नहीं मिलती और जो ऊपर बहुत-से खिड़कियोंवाले कमरोंमें निवास करते हैं उनको ताजी हवा मिलती है और वे दूरतक देख सकते हैं। दूसरा उदाहरण—संशय-निवृत्तिके लिये दिया जाता है कि मेघ-वर्षणसे छोटे-से गड्ढेके चुहुलीमें किंचित् पानी भर जाता है। कुछ कालतक उसमें रहता है फिर सूख जाता है। और झीलमें विशेषरूपसे पानी है, वह गड्ढेके पानीकी तरह शीघ्र सूखता नहीं है। जिनका पुण्य सांसारिक सुखके लिये है, उनका संसार-सुख-भोगमें ही सारा पुण्य समाप्त हो जाता है और जो निष्काम पुण्य किया जाता है उससे लोक और परलोक दोनोंमें सुख होता है। जैसे कटहलमें ऊपर भी फल लगते हैं और भूमिके भीतर भी।

प्रश्न—तब हम यूरोपवालोंको पुण्यशील क्यों न मानें?

उत्तर—उन्होंने केवल मन, तन और बुद्धिसे श्र[illegible]

कथित पुण्य संचय किया, जिसका फल सांसारिक ऐश्वर्य है, जिसके पीछे दुःख लगा है। वे रजोगुणी हैं। भोग-विलास ही उनका सब कुछ है। परंतु भोग तामसकी ओर प्रगति करता है और तामसका अन्त नाश है। यही कारण है कि अणुबम और क्षेप्यास्त्रादि बनाकर वे सृष्टि-संहार करनेको प्रस्तुत हैं।

यूरोपनिवासी तो अभी चन्द्रलोकतक भी नहीं पहुँच पाये। परंतु भारतके पूर्वकालमें नहुष-रावणने तो स्वर्गपति इन्द्रको निकालकर स्वर्गपर विजय प्राप्त की थी। परंतु उनका भी पतन बुरी तरहसे हुआ; क्योंकि वे सांसारिक वासनासे बद्ध थे। यूरोपवालोंने ही धर्मनिरपेक्षताकी नींव डाली थी और उसका कारण था कि किसी पूर्वकालमें वहाँ धर्माचार्य पोप ही सम्राट्के रूपमें माने जाते थे। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस आदि देशोंके राजागण पोपके मण्डलेश्वर थे।

पोपने अनुचित रूपसे राजाओंको दबाया, परिणाम यह हुआ कि सब राजाओंने पोपको पराजित किया और उनको कुछ एकड़ भूमि देकर सब स्वतन्त्र हो गये तथा जिस धर्मने उनको पोपके पराधीन किया था, उसको प्रशासनमें नहीं आने दिया। धर्मनिरपेक्ष शासन चलाया।

परंतु भारतमें किसी कालमें भी धर्माचार्योंने भूलकर भी राज्याधिकारकी ओर दृष्टि नहीं डाली। हाँ, शासकोंको धर्माचरण करनेके लिये उनके मन्त्री चाणक्यकी भाँति कुटियामें चने चबाकर राजा और प्रजाको धर्माचरणमें निरत अवश्य रक्खा। अपनेको त्यागके खूँटेमें बाँधकर राजा-प्रजाको लोक तथा परलोकका सुख प्रदान किया। तब उनके राज्यमें न अकाल, न जलप्लावन न संक्रामक रोग—त्रिविध व्याधियाँ नहीं थीं। जहाँ धर्म-सूर्य उदय होकर प्रकाश करता है वहाँ अधर्म-अन्धकार नहीं रह सकता।

प्रश्न—जलप्लावनादि और धर्मसे क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—जब धर्म पञ्च तत्त्वोंका घटाव-चढ़ाव कर सकता है, तब जितने उपद्रव भूमि और आकाशमें होते हैं, वे सब धर्मसे ही सम्बन्धित हैं।

प्रश्न—हम इसे कैसे मान लें जब धर्मका सम्बन्ध कथित ईश्वरसे है, जिसकी स्थितिका कोई प्रमाण नहीं। तब धर्म ही क्या वस्तु है?

[illegible]—जो वस्तु वर्तमान होती हो, उसीको स्वीकार तथा अस्वीकार किया जाता है। अस्वीकार 'नहीं' शब्दसे किया जाता है। यदि ईश्वरकी स्थिति नहीं है तो उसकी 'नहीं' कैसे की जा सकती है; क्योंकि जो वस्तु वर्तमान है उसकी 'नहीं' की जाती है। जैसे किसीने कहा कि छाता यहाँ नहीं है, तो इससे छाताका होना माना गया। सम्भव है वह स्थानान्तरमें हो, परंतु है वह अवश्य; क्योंकि 'नहीं' की नहीं, कभी नहीं की जा सकती। 'नहीं' शब्द उसी पदार्थके लिये प्रयोगमें आता है जो वर्तमान है। वह चाहे स्थानान्तरमें हो अथवा कालान्तरमें। है वह अवश्य। अतः ईश्वर नहीं है—कर्ताका ऐसा कथन निर्मूल है। जब छाता घाम और मेघ-जलसे बचाता है तब उसकी डंडी उसके साथ अवश्य होगी। उसी प्रकार ईश्वर है तो धर्म भी है। यदि किसीको धर्मसे द्वेष है तो उसके पूर्वजन्मके संस्कारसे ऐसी प्रवृत्ति है!

अदृष्टाच्च। (वैशेषिक ११)

अर्थात् पूर्वजन्मके संस्कारवश राग और द्वेष होते हैं।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः।

(वैशेषिक १५)

अर्थात् धर्म और अधर्ममें प्रवृत्ति इच्छा (राग) और द्वेषयुक्त होती है। राग और द्वेषका सम्बन्ध बुद्धिसे है।

अध्यवसायो बुद्धिः। (सांख्य १४)

निश्चयात्मक ज्ञानका नाम बुद्धि है और अध्यवसाय नाम निश्चयका है। उस निश्चयको ही बुद्धि कहते हैं।

तत्कार्यं धर्मादि। (सांख्य १५)

उस बुद्धिके कार्य धर्मादि हैं और मूर्ख पुरुषोंकी बुद्धिमें अज्ञानादि प्रबल होते हैं।

श्रद्धारूपी पक्की सड़क और त्वरित वाहनरूपी धर्मके साथ जीवनमें जो अग्रगमन करता है, वह अभीष्ट स्थानमें पहुँच जाता है। जिस मनुष्यमें धर्म नहीं, वह कटे हुए कनकौवी (पतंग) के समान इधर-उधर चञ्चल मनकी गतिके अनुसार मारा-मारा फिरता है।

प्रश्न—यदि धर्म रजोगुणी और तमोगुणी समुदाय भी मानते हैं और दोनों संसारकी ओर झुके हैं तो इससे क्या धर्मका शुद्ध रूप नहीं रह जाता?

उत्तर—गङ्गाजल घटमें रक्खा है । जबतक वह घटमें है पवित्र है । परंतु जब वह अपवित्र स्थान नाबदानमें पड़ गया, तब वह अपवित्र हो गया । उसी प्रकार तामसी-राजसी धर्म अधर्मके रूपमें परिणत हो जाता है, तब वह धर्म नहीं रह जाता ।

प्रश्न—राजाज्ञासे सब कार्य होते हैं; किंतु प्रजाको ही सब दुःख भोगने पड़ते हैं ?

उत्तर—कण्टकाकीर्ण पथमें नेत्रोंकी असावधानीसे काँटा लगनेसे पैरोंको कष्ट होता है, उसी प्रकार राजाकी असावधानी-से कण्टकाकीर्ण पथ चुना गया और उसपर चलानेमें भी असावधानी ही रही । जैसे नेत्र और पैर एक शरीरके अङ्ग हैं, उसी प्रकार राजा-प्रजा भी अभिन्न हैं । एक दूसरेके सुख-दुःख एक ही हैं ।

प्रश्न—सारा कष्ट प्रजा क्यों सहन करती है ?

उत्तर—मेघ बरसनेसे पहले वृक्षकी चोटीपर पानी जाता है, वहाँसे सरककर नीचे शाखा और वृक्षके धड़में पहुँचता है । चोटी तो सूख जाती है; परंतु धड़में आर्द्रता कई दिनों-तक रहती है । उसी प्रकार बादल तो बरसकर छुट्टी पा जाते हैं; परंतु भूमिगत नद-नदी, तड़ागमें पानी भरा रहता है । तात्पर्य यह कि जो निम्न स्थान है उसीको सारा भार सहन करना पड़ता है । दूसरी ओरसे विचार किया जाय तो उच्चको भी कष्टसे मुक्ति नहीं मिलती । वज्रके गिरनेपर चोटीको ही उसका प्रहार सहन करना पड़ता है । आटेके साथ घुन भी पिस जाता है !

श्रीकृष्णप्रेम वैरागी

(लेखक—श्रीमाधव आशिष)

श्रीश्रीकृष्णप्रेम वैरागी, भूतपूर्व प्रोफेसर रोनाल्ड निक्सन-का गत सन् १९६५, १४ नवम्बरको नैनीतालमें गोलोकवास हो गया । जन्मसे वे एक अंग्रेज थे । वे १९२१ में भारत आये थे और एक विश्वविद्यालयमें उन्होंने कई वर्षोंतक अध्यापन-कार्य किया था । उनकी गुरु, श्रीश्रीयशोदा माईने उन्हें वैष्णव-संन्यासधर्मकी दीक्षा दी । उनके साथ वे अलमोड़ा जिलेमें रहने लगे, जहाँ उन लोगोंने 'उत्तर वृन्दावन' नामक एक आश्रममें एक मन्दिरका निर्माण किया और श्रीराधा-कृष्णकी प्रतिष्ठा की । वहाँ वे थोड़े-से शिष्योंके साथ मृत्यु-पर्यन्त ३५ वर्षतक रहे, जहाँ ६५ सालकी उम्रमें उनका देहावसान हुआ ।

उनके असाधारण जीवनने पर्याप्त अभिरुचि पैदा की; क्योंकि जिस समय उन्होंने संन्यास लिया, ऐसे बहुत कम विदेशी थे जिन्होंने भारतीय आदर्शोंके प्रति खुलकर सहानुभूति रखते हुए ब्रिटिश सरकारकी आपत्तिका सामना करनेका साहस किया । जिन्होंने ऐसा किया उनमेंसे भी कुछ ही श्रीकृष्ण-प्रेमकी भाँति भारतीय संस्कृतिको पूर्णतया आत्मसात् कर सके । यदि उनकी चमड़ी गोरी और आँखें नीली न होतीं तो कोई भी उनके जन्मस्थानका अनुमान नहीं लगा सकता था । बातचीत, व्यवहार और भावनासे वे पूर्णतया भारतीय हो गये थे । जिस सरलतासे उन्होंने यह कार्य कर दिखाया उसे कुछ लोग पूर्वसंस्कारका परिणाम मानते थे । यद्यपि उन्हें भलीभाँति पता नहीं था कि संस्कारोंके क्या अर्थ होते हैं और वे किस प्रकार प्रस्थापित होते हैं । जिस गुरुको उन्होंने प्राप्त किया वे वैष्णव प्रवृत्तियोंवाले एक बंगाली ब्राह्मण-परिवारकी थीं । उपदेश ग्रहण करनेमें उन्होंने उस देशकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक पृष्ठभूमिको अपना लिया, जिसमें उस शिक्षाका उद्भव हुआ था । यही वह भूमि थी जिसमें तुलसीके पौधेका विकास हुआ था । ब्राह्मण और म्लेच्छके बीच साधारणतया प्रचलित किसी रूढ़िवादी भेद-भावके बिना वे गुरु-परिवारके एक अन्तरंग सदस्य स्वीकृत कर लिये गये । उन्होंने बुद्धिवादी दर्शनके साथ स्थानीय प्रचलित बिश्वासोंको और स्पष्ट यथार्थ मान्यताओंके साथ संकुचित पूर्वाग्रहोंको अंगीकृत किया । उन्होंने माँके स्तनसे एक शिशुकी भाँति बिना तर्कबुद्धिसे उस सम्पूर्ण मूल्यवान् भारतीय जीवन-दर्शनका पान किया, जिसे क्रमशः उन्होंने समझा और ग्रहण किया ।

रोनाल्ड हेनरी निक्सनका जन्म १८९८ ई०में १० मईको चेलटेनहम इंगलैंडमें हुआ था । उनके पिता चीनी मिट्टीके बर्तनोंके विशेषज्ञ थे और चीनी मिट्टी तथा शीशेके बर्तनका व्यापार करते थे । उनकी माँ एक ईसाई वैज्ञानिक डाक्टर थीं, जिन्होंने उनका लालन-पालन शाकाहारीके रूपमें किया । उन्हें सोमरसेटमें टान्टनके एक स्कूलमें भेजा गया । वहाँ उन्होंने किंग्स कालेज कैम्ब्रिजमें

जहाँ उनके पिताके चाचा सीनियर फेलो थे, Exhibition in science की छात्रवृत्ति प्राप्त की। स्कूलके बाद पहले वे चालकके रूपमें Royal Flyig borps में सम्मिलित हुए और १९१७ में उन्होंने फ्रांसमें लड़ाकू विमान उड़ानेका काम किया। सेना भंग होनेके बाद वे केम्ब्रिज गये; परंतु विषय परिवर्तनकर विज्ञानकी जगह Mental and Moral Science Tripos से १९२१ में डिग्री प्राप्त की।

केम्ब्रिजमें पढ़ते समय वे मैडम ब्लैवत्सकीकी थियोसोफी और बौद्धधर्मसे परिचित हुए। इन अभिरुचियोंका अनुशीलन करते समय उनकी कई लोगोंसे मित्रता हुई, जिनमेंसे बादमें दो उनके साथ भारत आये। उनके परम मित्र दिलीपकुमार राय भी उस समय केम्ब्रिजमें थे, यद्यपि उनकी वहाँ कभी भेंट नहीं हुई।

भगवान् बुद्धकी एक विशिष्ट प्रतिमासे प्रेरित होकर उन्होंने विचार किया कि मनुष्यनिर्मित यह बुद्ध-प्रतिमा मानव-हृदयके जिस शक्ति-सामर्थ्यको अभिव्यक्त कर रही है उस प्रकारका शक्ति-सामर्थ्य चाहे इतिहासमें कभी किसीको न मिला हो, पर जीवनमें उतारा जा सकता है। उनका मन भारतकी ओर फिरा, जहाँ बुद्धकी कथाने जन्म लिया था। सन् १९२१ में कैनिंग कालेजमें उन्होंने प्राध्यापकका पद प्राप्त किया जो बादमें लखनऊ विश्वविद्यालयके रूपमें परिणत हुआ, जिसके डा० जी० एन० चक्रवर्ती प्रथम उपकुलपति रहे।

डा० चक्रवर्ती एक प्रमुख थियॉसॉफिस्ट थे, जो शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनमें (Parliament of Religions) सोसाइटीके प्रतिनिधि थे, जहाँ स्वामी विवेकानन्दने अपना प्रसिद्ध भाषण दिया था। श्रीमती बीसेंट उनका बड़ा आदर करती थीं और श्रीबर्ट्रम कीटलेके वे गुरु-तुल्य थे। जब रोनाल्ड निक्सन लखनऊ पहुँचे, उन्हें उपकुलपतिके अतिथि-भवनमें अस्थायी रूपसे ठहराया गया। अभिरुचियोंमें पर्याप्त एकरूपता अनुभव कर डा० चक्रवर्तीने उन्हें वहीं ठहरनेके लिये आमन्त्रित किया। वे चक्रवर्ती-परिवारके एक अति प्रिय प्रायः अङ्गीकृत सदस्य हो गये।

निक्सन अपनी अभिरुचियों और सहानुभूतियोंके कारण सरकारी अधिकारियोंके ऐंग्लो इंडियन समाजसे अलग [illegible]े थे। जिन लोगोंके बीच उन्हें शेष जीवन बिताना था और स्वतन्त्रताके पश्चात् जिस देशके नागरिक हो गये, उन दोनोंकी वेश-भूषा, व्यवहार, भाषा, धर्म तथा दर्शनको अपनाकर उन्होंने क्रमशः भारतीय दृष्टिकोणसे एकत्व स्थापित कर लिया। यदि उन्हें उपकुलपति महोदयका व्यक्तिगत संरक्षण प्राप्त न होता और उपकुलपतिकी गवर्नर सर हरकोर्ट बटलरसे मैत्री न होती तो इसमें संदेह है कि ब्रिटिश अधिकारी-वर्ग ऐसे व्यवहारको सहन करता। जो भी हो, सहयोगियोंसे उनकी अच्छी निभी। उन्हें अपने छात्रोंकी मित्रता प्राप्त हुई जो उनकी जितनी प्रशंसा उनकी मोटर साइकिलकी तेज गतिके लिये करते, उतनी ही उनके अध्यापन, मैत्री-भावना और उनके भारतीय भावना अपनानेके कारण करते थे।

यद्यपि उनके मस्तिष्कपर बौद्ध-धर्मका प्रभाव रहा, पर वे किसी विचार-प्रणाली या धर्मकी अपेक्षा प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभूतिवाले व्यक्तिकी यत्र-तत्र खोज करते रहे। उन्हें बिल्कुल आशा नहीं थी कि उनकी भेंट अभिलषित व्यक्तिसे उसी परिवारमें होगी जहाँ वे भाग्यसे पहुँच गये थे। उन्हें केवल धीरे-धीरे अनुभव हुआ कि श्रीमती चक्रवर्ती, जिन्हें कुछ लोग 'लखनऊकी प्रथम महिला' कहते थे, विशिष्ट यौगिक अनुभूति और आध्यात्मिक स्तरवाली महिला थीं।

मोनिका चक्रवर्ती गाजीपुरनिवासी रायबहादुर गगनचन्द्र रायकी पुत्री थीं, जिनके घरमें स्वामी विवेकानन्दका आतिथ्य-सत्कार किया गया था। जब वे गगनबाबूके गुरु पौहारी बाबाके दर्शनके लिये प्रयत्नशील थे, अपनी निवास-अवधिमें विवेकानन्दजीने मोनिकाकी कुमारीरूपमें कुमारी-पूजा की थी। वह भी बादमें एक गुरुकी खोज करती रहीं और इस क्रममें अनेक तत्कालीन लोगोंसे मिलीं, लेकिन कोई उनके पतिके समान सिद्ध नहीं हुआ, जिनसे उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

ग्रीष्मावकाशमें चक्रवर्ती-परिवारके साथ अलमोड़ामें रोनाल्ड निक्सन हिंदी पाठके रूपमें सस्वर श्रीमद्भागवतका पारायण करते। उन्हें लगा कि श्रीमती चक्रवर्तीकी टिप्पणियाँ और व्याख्या उस व्यक्तिकी जैसी थीं, जिनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण सर्वथा प्रत्यक्ष थे। उन्होंने कहा कि यद्यपि श्रीकृष्णको इन आँखोंसे कोई नहीं देख पाता था, लेकिन मोनिकाकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण सदैव ठीक बगलके कमरेमें वर्तमान होते। निक्सनने दीक्षाकी प्रार्थना की; परंतु वह इन्हें इस महत्त्वपूर्ण

शर्तके साथ प्राप्त हुई कि चाहे जो हो वे इस पथपर दृढ़ रहेंगे और अनेक भावी साधकोंके समान मनकी हर नयी तरङ्गपर निष्ठामें परिवर्तन नहीं लायेंगे।

बुद्धकी प्रतिमामें उन्होंने जिस सिद्धिका दर्शन किया था वह थी जीवनसे मुँह मोड़कर स्थिर बैठ जानेके रूपमें। अब श्रीकृष्ण-कथामें भी उन्होंने उसी सिद्धिका दर्शन किया; किंतु यहाँ उस सिद्धिको जिस मूर्तिने हस्तगत कर रक्खा था वह एक साथ ही राजनीतिज्ञ, योद्धा, मित्र एवं प्रेमीके रूपमें व्यवहार करती हुई हिचकना नहीं जानती थी। एक समय ऐसा आया जब कि वे दिलीपरायको लिख सके—'दिलीप, ईश्वरकी शपथ है; श्रीकृष्णके चरण तुम्हारे चरणोंसे कहीं अधिक वास्तविक हैं।'

जब १९२६ में डा० चक्रवर्ती अवकाश प्राप्तकर बनारस चले गये। उस समय रोनाल्ड निक्सनके लिये उनकी गम्भीर सलाह एक ओर लखनऊमें विश्वविद्यालयकी सुरक्षित नौकरी और दूसरी ओर काशी हिंदू-विश्वविद्यालयमें अल्पवेतनवाले छोटे पदके बीच, जहाँ वे अपने आध्यात्मिक गुरु लोगोंसे निकट सम्पर्क बनाये रखते, कठिन चुनाव-कार्यमें सहायक हुई। उन्होंने बादवालेको चुना और जब एक वर्ष बाद डाक्टरोंने श्रीमती चक्रवर्तीको पहाड़ जानेकी सलाह दी, उन्होंने नौकरी छोड़ दी और अपनी गुरु श्रीमती चक्रवर्तीके साथ हो लिये। १९२८ में श्रीमती चक्रवर्तीने वैष्णव संन्यासधर्मका पवित्र व्रत लिया और श्रीयशोदामाई नाम रक्खा। कुछ ही दिनों बाद रोनाल्ड निक्सनने उनसे संन्यासकी दीक्षा और श्रीकृष्णप्रेम नाम प्राप्त किया। गेरुआ वेशमें, मुँडे सिर, चोटी, वैष्णव तिलक और पैरोंमें खड़ाऊँसहित वे आदर्श वैष्णव-संन्यासी हो गये।

एक वर्षतक श्रीकृष्णप्रेमने गुरु और अपने लिये अलमोड़ानगरमें भिक्षावृत्ति की और साथ ही श्रीयशोदामाईकी श्रीकृष्ण-मन्दिर बनवानेकी चिरकालीन इच्छाकी पूर्तिके लिये स्थान ढूँढ़ते रहे। उन्हें प्रायः ७००० फीट ऊँचाईपर अन्तः-प्रदेशमें वन तथा कृषियोग्य मिश्रित कुछ एकड़ भूमि मीर-टोलामें मिली। वहाँ १८ मीलकी पगडंडीके रास्तेसे केवल अतिदृढ़व्रती यात्रीके अतिरिक्त अन्योंके लिये उन लोगोंतक पहुँचना बड़ा कठिन था। वे लोग १९३० में वहीं बस गये, मैदानोंमें यदा-कदा आते। ३५ वर्ष बाद मृत्युपर्यन्त श्रीकृष्णप्रेम वहीं रहे। आश्रम और आश्रमका जीवन-केन्द्र १९३१ में बना और श्रीराधाकृष्णकी प्रतिष्ठा हुई। झोपड़ियाँ बनीं, एक स्कूल जिसमें यशोदामाईं स्वयं गाँवके बच्चोंको पढ़ातीं, साधारण चिकित्साके लिये एक औषधालय, जिसके प्रबन्ध और चलानेका दायित्व श्रीकृष्णप्रेमके कैम्ब्रिजके मित्र मेजर आर० डी० अलेक्जंडर आई० एम० एस० ने उठाया जो आश्रममें 'आनन्दप्रिय' नामसे सम्मिलित हुए और बादमें संन्यास ग्रहणकर श्रीहरिदास हो गये। श्रीयशोदा माईकी सबसे छोटी पुत्री संन्यासिनी होकर श्रीकृष्णार्पित माई बननेके पहिले जिस स्वनिर्मित भवनमें रहती थीं, उसमें पुस्तकालयकी स्थापना हुई। भवनोंके चारों ओर और बीच-बीचमें बगीचे खिल उठे और एक तरफ छोटा-सा खेत था जिससे आश्रमकी अनेकों साधारण आवश्यकताओंकी पूर्ति होती थी।

अपने गुरुकी देख-रेखमें यशोदा माईके गोपाल श्रीकृष्णप्रेमने हिंदू-परम्पराके कठोर अनुशासन—जैसे गुरु-सेवा, आत्मसंयम, ध्यान, शास्त्रोक्त विधिसे मूर्ति-पूजा और अध्ययनका पालन किया। बनारस आनेके बाद वे संस्कृत पढ़ते थे, गुरुसे बंगला या हिंदीमें बात करते। उन्होंने बंगला-कीर्तन सीखा। हर्षोन्मादकी स्थितिके उनके सोल्लासगीत अनेक सम्भ्रान्त श्रोतागणको प्रभावित कर देते। उनकी रचनाओं—विशेषकर The Yoga of the Bhagavadgita और The Yoga of the Kathopanishad के कारण भारतीय विचार-दर्शन और प्राचीन ज्ञानके व्याख्याताके रूपमें उनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई।

आश्रमका दैनिक जीवन ऐसी वैष्णव-संस्थाकी पद्धतिके अनुरूप होता, जिसमें मूर्तिकी पूजाके आवश्यकतानुसार जीवनका प्रत्येक पक्ष प्रातःकालसे सायंकालतक नियन्त्रित रहता। वास्तविक सेवा वृन्दावन-स्थित श्रीराधारमण-मन्दिरके आचार्य श्रीबालकृष्ण गोस्वामीके द्वारा बतायी गयी पद्धतिसे होती, जिनसे श्रीयशोदा माईने वैष्णव दीक्षा प्राप्त की थी और बादमें वेश-आश्रय ग्रहण किया। जब श्रीयशोदा माई अति बीमार होकर ठाकुरजीका भोग बनानेमें असमर्थ हो गयीं, श्रीकृष्णप्रेमने उनसे भोजन बनाना सीखा और श्रीकृष्णार्पित माईकी मृत्युके बाद पाकशालाका भार उठाया और स्वयं शिष्यों तथा आश्रमके अतिथियोंकी आवश्यकताओंका ध्यान इतनी कुशलतासे रखते कि साधारण भोजन एक सुन्दर भोज-जैसा लगता।

मीरटोलामें मित्रों और शिष्योंका एक छोटा समूह रहता था। वहाँ कभी बहुत लोग नहीं रहे। परम विनम्र होनेपर भी श्रीयशोदा माई बहुतसे अभ्यर्थियोंको, जो समझते कि जीवनकी कठिनाइयोंकी अपेक्षा आश्रम सुविधाजनक स्थान है या वहाँ

अवकाशप्राप्त वृद्ध लोगोंको निवास मिलना चाहिये, प्रोत्साहन नहीं देती थीं । सड़ककी कठिनाइयोंके कारण गुरूमें अतिथि नहीं आते, लेकिन उधरसे कैलाश जानेवाले साधुओंकी आव-भगत की जाती थी । केवल कुछ विशेष अवसरोंपर जब श्रीकृष्णप्रेम मैदानमें उतरते, उन्हें विचित्र प्रश्न करनेवाले लोग घेर लेते । वे लोग उनके पूर्ण समर्पणके द्वारा प्राप्त ज्ञान और अन्तर्दृष्टिकी अपेक्षा उनके भूतकालके महत्त्वहीन जीवनके विवरण और रहन-सहनके ढंगमें अधिक रुचि लेते थे। इस कारण वे प्रदर्शनसे दूर रहते और प्रोफेसर निक्सनके सम्बन्धमें पूछ-ताछ करनेवालोंको कह देते कि वे बहुत पहले गुजर चुके हैं । एक बार वृन्दावनमें एक अपरिचितने उनसे सड़कमें उनके जन्मस्थानके सम्बन्धमें पूछा । उन्होंने उत्तरमें पूछा, 'सही अथवा गलत स्थान ?' आदमीने कहा, 'निश्चय ही सही स्थान ।' वृन्दावनकी भूमिको स्पर्शकर उन्होंने कहा, 'यह' । आदमीने यह जानकर कि वे पकड़में आ गये हैं फिर पूछा, 'तब झूठा ठिकाना कौन-सा है ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जब आप सत्य जान गये तो झूठ जाननेसे क्या प्रयोजन ?' और हँसकर चल दिये । १९४४ में श्रीकृष्णप्रेमके कंधोंपर आश्रमका भार छोड़कर श्रीयशोदा माई गोलोक सिधारीं । उनकी गुरुके भस्मावशेषोंको रखनेके लिये एक समाधि-मन्दिर निर्माण किया गया और आश्रमका जीवन पूर्ववत् चलने लगा; लेकिन वर्षोंकी निष्ठापूर्ण सेवा और अनुशासनने अपना प्रभाव दिखाया । उनकी बढ़ती हुई अवस्थाके साथ-साथ उनकी धार्मिक अनुभूतियोंमें गहराई आती गयी, जिसका परिणाम उनके दृष्टिकोणकी सर्वव्यापकतामें हुआ जो उनके प्रारम्भिक वर्षोंमें परिलक्षित होनेवाली संकुचिततासे सर्वथा भिन्न थी । उनका व्यवहार बुद्धिवादी होकर भी कोमल होता गया और जिसका परिचय उनके स्नेह-युक्त हार्दिक सत्कारसे मिलता था जो वे भारत तथा विदेशोंसे आनेवाले आगन्तुकोंका किया करते थे, जिनकी संख्यामें नयी मोटर-सड़क बन जानेके कारण दिनों-दिन वृद्धि होती गयी ।

अब आश्रमके बाह्य जीवनसे भी श्रीकृष्णप्रेमके स्वभावमें हुए आन्तरिक परिवर्तनोंका बोध होता था; क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक मार्गका तत्त्व समझ लिया था और उन्हें बाहरी परम्परागत प्रतीकोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रही । ऐसा लगता था मानो आत्माने दूसरी बार परंतु गूढ़तर संन्यास लिया हो । उनके शिष्यों तथा स्वयंके लिये प्रत्येक अनावश्यक वस्तु आश्रमसे हटा दी गयी, जिस तरह उन्होंने अपने मानससे अनावश्यक बौद्धिक घरौंदोंको निकाल दिया था। अपनी मृत्युके १० वर्ष पूर्व ही उन्होंने आश्रम तथा उसके संचालनके लिये १९२९में बनाये गये ट्रस्टका कार्य-भार अपने शिष्योंमेंसे एकको सौंप दिया था । उन्होंने कहा, 'मैं साधू हो गया हूँ ।' कुछ लोग उनके इसलिये आलोचक हो गये; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उनके द्वारा आचरित परम्परागत और कर्मकाण्डी मार्ग हेय स्तरका था । कुछ अन्य लोग इसलिये आलोचना करते थे कि उन्होंने अपने गुरुद्वारा स्थापित आश्रमकी पद्धतिमें परिवर्तन ला दिया था । वे किसी दूसरेकी बातकी परवा नहीं करते थे और उनके प्रत्येक कार्य उनके गुरुकी वाणीसे नियन्त्रित होते, चाहे वे प्रकट रूपमें बोलती हों या हृदयमें प्रेरणा देती रही हों ।

जो भी उनके पास आया, चाहे वह किसी कौतूहलको लेकर अथवा आन्तरिक मार्गकी खोजमें—सभी उनकी आत्माके दीप्तिमान् विश्वासके सम्पर्कसे स्वयंमें शक्तिका अनुभव करते थे । उन्हें उनके मार्गका अनुसरण करनेवाले आत्मीय मित्रों तथा अनुयायियोंका जो सम्मान और स्नेह प्राप्त हुआ, वह उनके भूतपूर्व प्रोफेसर, पुस्तक-लेखक तथा कभीके कर्मकाण्डी होनेके कारण नहीं मिला । जिस प्रकार मनुष्यको रहना चाहिये, वे रहे । और अपने लिये किसी सुविधाकी माँग नहीं की । बात करते समय ऐसे बात करते जैसे अपने हृदयसे दूसरोंके हृदयोंसे बात करते हों । मनुष्य-स्वभावकी आन्तरिक गहराइयोंको भेदती हुई उनकी नीली आँखें, झूठको धूलि धूसरित कर देनेवाले उनके तीखे प्रश्न, उनकी विनोदप्रियता, प्रेरणादायके वार्तालाप, मुक्तहस्त प्रेम-वितरण स्मृतिमें सँजोने योग्य हैं । सर्वाधिक स्मरणीय प्रायः दिखायी पड़नेवाला उनके आत्माका प्रकाश था, जिसका केन्द्रीय आलोक उनके स्वभावके अनेक पहलुओंको महत्त्व प्रदान करता था ।

एक लम्बी और कष्टदायक बीमारीके, जिसको उन्होंने बिना किसी शिकायतके सहन किया, बाद १४ नवम्बर १९६५ की प्रातःकाल नैनीतालमें उनका गोलोकवास हुआ । कुछ ही घंटोंमें उनका शव पनुआनौला लाया गया जो मीरटोला जानेवाली मोटर-सड़कपर सबसे निकटका स्थान था । परंतु कार पहुँचनेसे पूर्व ही समाचार पहुँच चुका था और निकटवर्ती ग्रामोंके एक सौसे कुछ अधिक व्यक्ति पहले

ही वहाँ एकत्रित थे जो दण्डेश्वर वनमें स्थित खुले और शान्त स्थानतक कुछ मील शवको अपने कंधोंपर ले जानेके अधिकारका प्रेमपूर्वक आग्रह करने लगे । वहाँ उन्होंने सुगन्धित देवदारके लट्ठोंसे उनकी चिता तैयार की; क्योंकि वे उनके बीच ३५ वर्षतक रहे थे और उन सबके मनमें उनके लिये बड़ा आदर था ।

एक भारतीय मित्रने एक उपयुक्त संस्मरण लिखा है, 'मेरे लिये वे असम्भव चरित्रके मूर्तिमान् प्रतीक थे, जिन्होंने जीवनको अर्थ और गौरव प्रदान किया ।'

श्रीकृष्णप्रेमको तो अब भौतिक आवासकी आवश्यकता नहीं रही; परंतु गुरुके लिये बनाया गया आश्रम, जहाँ उन्होंने उनकी मृत्युपर्यन्त सेवा की और जहाँ उन्होंने अपने आध्यात्मिक मार्गका इतने वर्षोंतक अनुसरण किया, वह उनके मुट्ठीभर शिष्योंके लिये सजीव केन्द्र बना हुआ है, जिनको बदलेमें, उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञानके मार्गमें दीक्षित किया । उनकी आन्तरिक उपस्थितिके संरक्षणमें वे सब उनके द्वारा सिखाये गये मार्गपर बढ़ते चले जा रहे हैं।*

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

कविता कला है और कलाका संसार संकेतभरा संसार है । कलाकार हमको शब्दोंसे' नहीं कहता, वह शब्दोंसे कहलवाता है। कविके शब्दोंमें अर्थ ही केवल नहीं है, इशारे भी हैं। बाह्य रूप देखकर, शब्दार्थ समझकर कलाकारका पूरा अर्थ कोई नहीं समझ सकता: क्योंकि कलाकार कुछ और भी कहता है जो कृतिके बाह्य रूपके, शब्दार्थके परे है । एक स्थानपर अयोध्याकाण्डमें मानसकार कहते हैं—

एक निमेष बरस सम जाई । एहि बिधि भरत नगर निअराई ॥

टीकाकारोंने इसका अर्थ यों किया है कि भरतजीका एक निमेष एक वर्षके समान बीत रहा था । इस प्रकार भरतजी नगरके निकट पहुँचे ।

शब्दोंका अर्थ तो यह हो गया । परंतु कविवरका सम्पूर्ण अर्थ यह नहीं है । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका इन शब्दोंद्वारा कुछ और भी कहनेका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होता तो वे यहाँ 'भरत' शब्दका प्रयोग न करते । वे यह कह देते कि दूत दोनों कुँवरोंको लेकर अयोध्याजी पहुँचे । और कविवर 'नगर निअराई' भी न कहते । वे दूसरे शब्दोंका प्रयोग करते । वे इस पंक्तिके उत्तरार्धको यों भी कह सकते थे—

पहुँचे नगर निकट सब लोगा ।

और तब भी लोग यही अर्थ करते कि भरतादि सब नगरके निकट पहुँचे । परंतु कविवरका आशय केवल यह कहना नहीं है कि दोनों राजकुँवर नगरके निकट पहुँचे । वे यहाँ यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि रथ बहुत तेजीसे चल रहा था—

चले समीर बेग हय हाँके ।

—फिर भी भरतजीको ऐसा लगा कि नगरतक उसे पहुँचते-पहुँचते बड़ी देर लगी—बहुत देरमें नगरके पास रथ पहुँचा । वास्तवमें तो सामान्यतः जो समय रथको अयोध्याजी पहुँचनेमें लगता उससे आज बहुत कम समय लगा; क्योंकि गुरु वशिष्ठजीकी दूतोंको आज्ञा यह थी कि बहुत जल्दी जाओ और बहुत जल्दी वापिस आओ । घोड़े भी इसलिये विशेष

---

* श्रीकृष्णप्रेमजीसे उनके संन्यास-ग्रहणसे पूर्वका ही मेरा बहुत निकटका प्रेमका सम्बन्ध था । वे सच्चे भक्त-हृदयके महानुभाव थे । पाश्चात्यभूमिमें जन्म होनेपर भी वे भारतीय संस्कृतिके स्वरूप थे और सच्चे अर्थमें परम वैष्णव थे । भक्तिके परमोज्ज्वल मधुररसके बड़े सूक्ष्म ज्ञाता थे और भगवद्वाणी गीताके मर्मज्ञ विद्वान् थे । उनके जानेसे भारतीय वैष्णव-संस्कृतिके एक पाश्चात्य जगत्-जात संतका ऐसा अभाव हो गया, जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं । आशा है उनके भावुक शिष्यवर्ग उनका पदानुसरण कर उनकी भक्ति-परम्पराको अक्षुण्ण रखेंगे ।

'कल्याण'में उनके कई महत्त्वपूर्ण ऐसे लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जो केवल 'कल्याण' के लिये ही लिखे गये थे, जिनमें एक लेख तो उन्हींकी लिखी अविकल हिन्दीमें छापा गया था । उन लेखोंको हम पुस्तकाकार भी प्रकाशित करना चाहते हैं ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सु[illegible]

अवकाशप्राप्त वृद्ध लोगोंको निवास मिलना चाहिये, प्रोत्साहन नहीं देती थीं। सड़ककी कठिनाइयोंके कारण शुरूमें अतिथि नहीं आते, लेकिन उधरसे कैलाश जानेवाले साधुओंकी आव-भगत की जाती थी। केवल कुछ विशेष अवसरोंपर जब श्रीकृष्णप्रेम मैदानमें उतरते, उन्हें विचित्र प्रश्न करनेवाले लोग घेर लेते। वे लोग उनके पूर्ण समर्पणके द्वारा प्राप्त ज्ञान और अन्तर्दृष्टिकी अपेक्षा उनके भूतकालके महत्त्वहीन जीवनके विवरण और रहन-सहनके ढंगमें अधिक रुचि लेते थे। इस कारण वे प्रदर्शनसे दूर रहते और प्रोफेसर निक्सनके सम्बन्धमें पूछ-ताछ करनेवालोंको कह देते कि वे बहुत पहले गुजर चुके हैं। एक बार वृन्दावनमें एक अपरिचितने उनसे सड़कमें उनके जन्मस्थानके सम्बन्धमें पूछा। उन्होंने उत्तरमें पूछा, 'सही अथवा गलत स्थान?' आदमीने कहा, 'निश्चय ही सही स्थान।' वृन्दावनकी भूमिको स्पर्शकर उन्होंने कहा, 'यह'। आदमीने यह जानकर कि वे पकड़में आ गये हैं फिर पूछा, 'तब झूठा ठिकाना कौन-सा है?' उन्होंने उत्तर दिया 'जब आप सत्य जान गये तो झूठ जाननेसे क्या प्रयोजन?' और हँसकर चल दिये। १९४४ में श्रीकृष्णप्रेमके कंधोंपर आश्रमका भार छोड़कर श्रीयशोदा माई गोलोक सिधारीं। उनकी गुरुके भस्मावशेषोंको रखनेके लिये एक समाधि-मन्दिर निर्माण किया गया और आश्रमका जीवन पूर्ववत् चलने लगा; लेकिन वर्षोंकी निष्ठापूर्ण सेवा और अनुशासनने अपना प्रभाव दिखाया। उनकी बढ़ती हुई अवस्थाके साथ-साथ उनकी धार्मिक अनुभूतियोंमें गहराई आती गयी, जिसका परिणाम उनके दृष्टिकोणकी सर्वव्यापकतामें हुआ जो उनके प्रारम्भिक वर्षोंमें परिलक्षित होनेवाली संकुचिततासे सर्वथा भिन्न थी। उनका व्यवहार बुद्धिवादी होकर भी कोमल होता गया और जिसका परिचय उनके स्नेह-युक्त हार्दिक सत्कारसे मिलता था जो वे भारत तथा विदेशोंसे आनेवाले आगन्तुकोंका किया करते थे, जिनकी संख्यामें नयी मोटर-सड़क बन जानेके कारण दिनों-दिन वृद्धि होती गयी।

अब आश्रमके बाह्य जीवनसे भी श्रीकृष्णप्रेमके स्वभावमें हुए आन्तरिक परिवर्तनोंका बोध होता था; क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक मार्गका तत्त्व समझ लिया था और उन्हें बाहरी परम्परागत प्रतीकोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रही। ऐसा लगता था मानो आत्माने दूसरी बार परंतु गूढ़तर संन्यास लिया हो। उनके शिष्यों तथा स्वयंके लिये प्रत्येक अनावश्यक वस्तु आश्रमसे हटा दी गयी, जिस तरह उन्होंने अपने मानससे अनावश्यक बौद्धिक घरौंदोंको निकाल दिया था। अपनी मृत्युके १० वर्ष पूर्व ही उन्होंने आश्रम तथा उसके संचालनके लिये १९२९में बनाये गये ट्रस्टका कार्य-भार अपने शिष्योंमेंसे एकको सौंप दिया था। उन्होंने कहा, 'मैं साधू हो गया हूँ।' कुछ लोग उनके इसलिये आलोचक हो गये; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उनके द्वारा आचरित परम्परागत और कर्मकाण्डी मार्ग हेय स्तरका था। कुछ अन्य लोग इसलिये आलोचना करते थे कि उन्होंने अपने गुरुद्वारा स्थापित आश्रमकी पद्धतिमें परिवर्तन ला दिया था। वे किसी दूसरेकी बातकी परवा नहीं करते थे और उनके प्रत्येक कार्य उनके गुरुकी वाणीसे नियन्त्रित होते, चाहे वे प्रकट रूपमें बोलती हों या हृदयमें प्रेरणा देती रही हों।

जो भी उनके पास आया, चाहे वह किसी कौतूहलको लेकर अथवा आन्तरिक मार्गकी खोजमें—सभी उनकी आत्माके दीप्तिमान् विश्वासके सम्पर्कसे स्वयंमें शक्तिका अनुभव करते थे। उन्हें उनके मार्गका अनुसरण करनेवाले आत्मीय मित्रों तथा अनुयायियोंका जो सम्मान और स्नेह प्राप्त हुआ, वह उनके भूतपूर्व प्रोफेसर, पुस्तक-लेखक तथा कभीके कर्मकाण्डी होनेके कारण नहीं मिला। जिस प्रकार मनुष्यको रहना चाहिये, वे रहे। और अपने लिये किसी सुविधाकी माँग नहीं की। बात करते समय ऐसे बात करते जैसे अपने हृदयसे दूसरोंके हृदयोंसे बात करते हों। मनुष्य-स्वभावकी आन्तरिक गहराइयोंको भेदती हुई उनकी नीली आँखें, झूठको धूलि धूसरित कर देनेवाले उनके तीखे प्रश्न, उनकी विनोदप्रियता, प्रेरणादायक वार्तालाप, मुक्तहस्त प्रेम-वितरण स्मृतिमें सँजोने योग्य हैं। सर्वाधिक स्मरणीय प्रायः दिखायी पड़नेवाला उनके आत्माका प्रकाश था, जिसका केन्द्रीय आलोक उनके स्वभावके अनेक पहलुओंको महत्त्व प्रदान करता था।

एक लम्बी और कष्टदायक बीमारीके, जिसको उन्होंने बिना किसी शिकायतके सहन किया, बाद १४ नवम्बर १९६५ की प्रातःकाल नैनीतालमें उनका गोलोकवास हुआ। कुछ ही घंटोंमें उनका शव पनुआनौला लाया गया जो मीरटोला जानेवाली मोटर-सड़कपर सबसे निकटका स्थान था। परंतु कार पहुँचनेसे पूर्व ही समाचार पहुँच चुका था और निकटवर्ती ग्रामोंके एक सौसे कुछ अधिक व्यक्ति पहले

ही वहाँ एकत्रित थे जो दण्डेश्वर वनमें स्थित खुले और शान्त स्थानतक कुछ मील शवको अपने कंधोंपर ले जानेके अधिकारका प्रेमपूर्वक आग्रह करने लगे। वहाँ उन्होंने सुगन्धित देवदारके लट्ठोंसे उनकी चिता तैयार की; क्योंकि वे उनके बीच ३५ वर्षतक रहे थे और उन सबके मनमें उनके लिये बड़ा आदर था।

एक भारतीय मित्रने एक उपयुक्त संस्मरण लिखा है, 'मेरे लिये वे असम्भव चरित्रके मूर्तिमान् प्रतीक थे, जिन्होंने जीवनको अर्थ और गौरव प्रदान किया।'

श्रीकृष्णप्रेमको तो अब भौतिक आवासकी आवश्यकता नहीं रही; परंतु गुरुके लिये बनाया गया आश्रम, जहाँ उन्होंने उनकी मृत्युपर्यन्त सेवा की और जहाँ उन्होंने अपने आध्यात्मिक मार्गका इतने वर्षोंतक अनुसरण किया, वह उनके मुट्ठीभर शिष्योंके लिये सजीव केन्द्र बना हुआ है, जिनको बदलेमें उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञानके मार्गमें दीक्षित किया। उनकी आन्तरिक उपस्थितिके संरक्षणमें वे सब उनके द्वारा सिखाये गये मार्गपर बढ़ते चले जा रहे हैं।*

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

कविता कला है और कलाका संसार संकेतभरा संसार है। कलाकार हमको शब्दोंसे नहीं कहता, वह शब्दोंसे कहलवाता है। कविके शब्दोंमें अर्थ ही केवल नहीं है, इशारे भी हैं। बाह्य रूप देखकर, शब्दार्थ समझकर कलाकारका पूरा अर्थ कोई नहीं समझ सकता; क्योंकि कलाकार कुछ और भी कहता है जो कृतिके बाह्य रूपके, शब्दार्थके परे है। एक स्थानपर अयोध्याकाण्डमें मानसकार कहते हैं—

एक निमेष बरस सम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई॥

टीकाकारोंने इसका अर्थ यों किया है कि भरतजीका एक निमेष एक वर्षके समान बीत रहा था। इस प्रकार भरतजी नगरके निकट पहुँचे।

शब्दोंका अर्थ तो यह हो गया। परंतु कविवरका सम्पूर्ण अर्थ यह नहीं है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका इन शब्दोंद्वारा कुछ और भी कहनेका अभिप्राय है। यदि ऐसा न होता तो वे यहाँ 'भरत' शब्दका प्रयोग न करते। वे यह कह देते कि दूत दोनों कुँवरोंको लेकर अयोध्याजी पहुँचे। और कविवर 'नगर निअराई' भी न कहते। वे दूसरे शब्दोंका प्रयोग करते। वे इस पंक्तिके उत्तरार्धको यों भी कह सकते थे—

पहुँचे नगर निकट सब लोगा।

और तब भी लोग यही अर्थ करते कि भरतादि सब नगरके निकट पहुँचे। परंतु कविवरका आशय केवल यह कहना नहीं है कि दोनों राजकुँवर नगरके निकट पहुँचे। वे यहाँ यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि रथ बहुत तेजीसे चल रहा था—

चले समीर बेग हय हाँके।

—फिर भी भरतजीको ऐसा लगा कि नगरतक उसे पहुँचते-पहुँचते बड़ी देर लगी—बहुत देरमें नगरके पास रथ पहुँचा। वास्तवमें तो सामान्यतः जो समय रथको अयोध्याजी पहुँचनेमें लगता उससे आज बहुत कम समय लगा; क्योंकि गुरु वशिष्ठजीकी दूतोंको आज्ञा यह थी कि बहुत जल्दी जाओ और बहुत जल्दी वापिस आओ। घोड़े भी इसलिये विशेष

---

* श्रीकृष्णप्रेमजीसे उनके संन्यास-ग्रहणसे पूर्वका ही मेरा बहुत निकटका प्रेमका सम्बन्ध था। वे सच्चे भक्त-हृदयके महानुभाव थे। पाश्चात्त्यभूमिमें जन्म होनेपर भी वे भारतीय संस्कृतिके स्वरूप थे और सच्चे अर्थमें परम वैष्णव थे। भक्तिके परमोज्ज्वल मधुररसके बड़े सूक्ष्म ज्ञाता थे और भगवद्वाणी गीताके मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनके जानेसे भारतीय वैष्णव-संस्कृतिके एक पाश्चात्त्य जगत्-जात भक्ति-संतका ऐसा अभाव हो गया, जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं। आशा है उनके भावुक शिष्यवर्ग उनका पदानुसरण कर उनकी भक्ति-परम्पराको अक्षुण्ण रक्खेंगे।

'कल्याण'में उनके कई महत्त्वपूर्ण ऐसे लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जो केवल 'कल्याण' के लिये ही लिखे गये थे, जिनमें एक लेख तो उन्हींकी लिखी अविकल हिन्दीमें छापा गया था। उन लेखोंको हम पुस्तकाकार भी प्रकाशित करना चाहते हैं।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सु

प्रकारसे तेज गये-आये। वे 'समीर वेग' से चले; परंतु भरतजीकी चिन्तामग्न मानसिक दशाके कारण उनको यह लगा कि अयोध्या पहुँचनेमें बड़ी देर लगी। भरतजीकी मानसिक दशाकी ओर संकेत करनेके लिये यहाँ 'भरत'का नाम आया है और 'नगर निअराई' पहले स्थानपर अर्थात् 'नगर' और बादमें पास आना 'निअराई' कहकर कविवरने इस ओर इशारा किया है कि भरतजीको ऐसा लगा कि सामान्यतः जो समय अयोध्याजीतक आनेमें लगता उससे इस बार अधिक समय लगा।

कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी यह विशेषता है कि वे आने या जाने या पहुँचनेकी गतिको एक विशेष संकेतद्वारा इङ्गित करते हैं।

प्रसंग किष्किन्धाकाण्डका है। सीताजीकी खोजमें प्याससे व्याकुल हनुमानादि वानर जब एक गुप्त विवरमें जाते हैं, तब वे देखते हैं—

मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज।

इस 'नारि तप पुंज'ने वानरोंसे सब वृत्तान्त सुनकर निश्चय किया—

मैं अब जाब जहाँ रघुराई।

तदुपरान्त—

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा।

करुणानिधान प्रभुके पास पहुँचकर उनकी 'अनपायनी भगति' प्राप्त करके—

बदरीबन कहुँ सो गई प्रभु अग्या धरि सीस।

इस प्रसंगमें 'नारि तप पुंज' के जानेका उल्लेख है। एक बार उसने श्रीरघुनाथजीके पास जानेका निश्चय किया, दूसरी बार उसका श्रीरघुनाथजीके पास जाना कहा गया, तीसरी बार उसका 'बदरी बन' जाना कहा है। तीनों बार बात जो है वह जानेकी ही है।

परंतु—

मैं अब जाब जहाँ रघुराई।

और—

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा।

—में जानेकी गतिमें शीघ्रताका संकेत है लेकिन—

बदरीबन कहुँ सो गई।

—में जानेकी गतिमें धीरेपनका संकेत है। यह बात है ठीक; क्योंकि श्रीरघुनाथजीकी अनुपम माधुर्य मूर्तिसे दूर होना कौन चाहेगा और अगर परिस्थितिवश दूर होना पड़ा तो चाल धीमी होनी स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह है कि वह कौन-सा संकेत है जिसके द्वारा गति-परिवर्तनकी सूचना कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी हमें देते हैं।

बात बहुत सीधी है।

मैं अब जाब जहाँ रघुराई।

और—

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा।

—इन दोनों पंक्तियोंमें जानेकी क्रियाका उल्लेख पहले है और जानेके स्थानका उल्लेख बादमें। पहली पंक्तिमें 'जाब' जो क्रिया है वह पहले कही है और 'जहाँ रघुराई' जो स्थान-सूचक शब्द हैं वे क्रियाके बादमें आये हैं। दूसरी पंक्तिमें 'गई' पहले है, जानेकी क्रियाका उल्लेख पहले है और जानेके स्थानका—'जहाँ रघुनाथा'का उल्लेख बादमें है। जहाँ इस प्रकारसे बात कही गयी है उसका आशय यह है कि जानेकी गति सामान्य गतिसे शीघ्रतर है।

एक अन्य प्रसंगमें कविवर कहते हैं—

फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥

यहाँ क्रोध-भरे नारदजी 'सपदि चले' भगवान्‌के पास तेजीसे चले। इसलिये चलनेकी क्रिया 'चले' पहले कही और जानेका स्थान 'कमलापति पाहीं' बादमें कहा है।

लंकाकाण्डमें कविवर कहते हैं—

सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान।
मारी सो धरि दिव्य तनु चली गगन चढ़ि जान॥

—यह मकरी 'दिव्य तनु' पाकर तेजीसे 'जान' में बैठकर ऊपर उड़ गयी। 'चली गगन'। यहाँ चलनेकी क्रिया 'चली' का उल्लेख पहले है और पहुँचनेके स्थान-'गगन'का उल्लेख बादमें किया है; क्योंकि प्रसंग शीघ्र गतिका है।

इसी प्रकार—

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सकति कराला॥

यहाँ भी जानेकी क्रिया 'गई' का उल्लेख पहले है और जानेके स्थान 'गगन' का उल्लेख बादमें है। यह उस कराल शक्तिका तेजीसे जानेका संकेत है।

नीचे कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं, जिनमें पहले क्रियाका और उसके बाद स्थानका उल्लेख होनेसे कविवरका शीघ्र गतिकी ओर संकेत है।

गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा।

उनको प्रभुकी परीक्षा लेनेकी उत्कण्ठा थी, इसलिये सतीजी जल्दी-जल्दी गयीं।

समाचार सुनि तुहिन गिरि गवने तुरत निकेत।

घबराहटके मारे हिमाचल तुरंत घर गये।

गईं संभु पहिं मातु भवानी।

कहीं 'भल अवसरु' हाथसे निकल न जाय इसलिये जल्दीसे पार्वतीजी महादेवजीके पास गयीं।

सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।

सीताजीकी आज्ञाका शीघ्रातिशीघ्र पालन करनेके लिये सब सिद्धियाँ जहाँ जनवासा था, वहाँ जल्दीसे चलीं।

जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥

भरतजी बहुत बेचैन हैं। वे चाहते हैं कि अविलम्ब वे श्रीरघुनाथजीके पास पहुँच जायँ। इसलिये 'जाउँ राम पहिं' कहा 'राम पहिं जाउँ' नहीं कहा।

जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥

भरतजी चाहते हैं कि एकदम जल्दी श्रीरघुनाथजी अयोध्याजीको लौट आयें। इसलिये पहले 'आवहिं' कहा बादमें 'रजधानी' कहा।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी जब साधारण गतिसे शीघ्रतर गतिका संकेत करते हैं तब जहाँ स्थानका भी स्पष्टीकरण है वहाँ जाने-आनेकी क्रियाको पहले लिखते हैं और जाने-आनेके स्थानका इस क्रियाके बाद उल्लेख करते हैं। इसके विपरीत जब वे स्थानका उल्लेख पहले करते हैं और जाने-आनेकी क्रियाका उल्लेख बादमें करते हैं तो इसका आशय यह होता है कि गति साधारण है अथवा साधारणसे मन्द है, धीमी है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

बदरी बन कहुँ सो गई प्रभु अग्या धरि सीस॥

यहाँ 'नारि तप पुंज' के बदरीवन जानेका वर्णन है। इस स्थानपर मन्दगतिसे जानेका संकेत है; क्योंकि जानेके स्थान 'बदरीबन'का उल्लेख पहले है और जानेकी क्रिया 'गई' इसके बाद आयी है। 'प्रभु अग्या धरि सीस' वह गयी तो परंतु धीमे-धीमे गयी।

इस संकेतका एक सुन्दर दृष्टान्त अरण्यकाण्डमें मिलता है। शोभासिन्धु खरारि श्रीरामचन्द्रजीको देखकर सूपनखाका यह हाल हुआ कि—

होइ बिकल सक मनहि न रोकी।

और बन-ठनके, मटक-मटककर हाव-भाव दिखलाती हुई बड़ी अदासे धीमे-धीमे—

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥

अनुपम कलाकार कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने इसके मटक-मटककर मन्द चालसे जानेका शब्दोंद्वारा वर्णन नहीं किया; परंतु पहले जानेका स्थान 'प्रभु पहिं' और इसके बाद जानेकी क्रिया 'जाई' को लिखकर इसकी मंदगतिकी ओर संकेत कर दिया है।

करुणानिधान प्रभु परम कौतुकी हैं। मायापतिसे सूपनखा माया कर रही है! प्रभुने कहा—'देखो, वह रहा मेरा भाई।' 'लघु' कहकर, छोटी उम्रका कहकर और 'कुमार' कहकर प्रभुने लक्ष्मणजीके प्रति सूपनखाका लोभ बढ़ा दिया और फिर 'सीतहिं चितइ' प्रभुने यह बात कही कि मैं अपने सम्बन्धमें तो क्या कहूँ। बस, अब तुम स्वयं ही समझ लो! सीताजीकी ओर कौतुकी कृपालाके देखनेका यही भाव था। यह सुनते ही सूपनखा लक्ष्मणजीके पास गयी। लेकिन उन्होंने जो उसको बातें कहीं, उनसे वह खिसिया गयी और सोचमें पड़ गयी। जब सूपनखा लक्ष्मणजीके पाससे श्रीरघुनाथजीके पास लौटकर आयी तो खिसिआहटके मारे उसमें पहलेवाला उत्साह नहीं रहा, उसकी चाल धीमी हो गयी और वह धीरे-धीरे प्रभुके पास आयी—

तब खिसिआनि राम पहिं गई।

सूपनखाके इस प्रकार सोचमें पड़े हुए धीमे-धीमे जानेका संकेत कविवरने 'राम पहिं गई' कहकर किया है जहाँ जानेका स्थान 'राम पहिं' पहले कहा है और जानेकी क्रिया 'गई' का उल्लेख बादमें हुआ है। इसी प्रकार जब शंकर भगवान्‌के पास रति जाती है—

रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई।

तब कविवर 'गई संकर पहिं' नहीं कहते हैं बल्कि 'संकर पहिं गई' कहते हैं जिससे पहले जानेका स्[illegible]

'संकर पहिं' और इसके बाद जानेकी क्रिया 'गई' देखकर हम यह समझ लें कि रतिकी चाल धीमी है।

लंकाकाण्डमें मन्दोदरी आदि रानियाँ रावणको तिलाञ्जलि देनेके पश्चात्—

भवन गईं रघुपति गुन गन बरनत मन माहिं।

यहाँ 'भवन गईं' कहकर कविवरने इनकी मन्द चालका संकेत किया है; क्योंकि यहाँ पहले जानेके स्थान 'भवन'का उल्लेख है और तदुपरान्त जानेकी क्रिया 'गईं' दी गयी है।

श्रीरघुनाथजीकी परीक्षा लेनेके लिये सतीजी चलीं तो बड़े उत्साहसे परंतु जब श्रीरघुनाथजीने उन्हें सादर प्रणाम किया और—

कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

तब—

राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु॥

'अति संकोचु' और 'बड़ सोचु' और भयके कारण सतीजीका पाँव उधर जल्दी उठ नहीं रहा था जिधर वटवृक्ष-की छाँहमें शिवजी विराजमान थे। इस धीमी सोचभरी चालकी ओर कविवरने 'महेस पहिं चलीं' कहकर संकेत किया है जहाँ जानेके स्थान 'महेस पहिं' का उल्लेख पहले है और जानेकी क्रिया 'चलीं' इसके बाद कही है।

पुत्रेष्टियज्ञके अन्तमें 'हवि' देकर अग्नि देवता जब अदृश्य हो गये तो कविवर कहते हैं कि—

तबहिं रायँ प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं॥

ये प्रिय रानियाँ विशेष प्रकारसे सुमुखि सुलोचनी और गजगामिनी थीं, शोभाका भार ही सँभालना इनके लिये बहुत था, अतएव जब ये आयीं तो मन्थर-गतिसे आयीं, रानियोंकी चालसे आयीं। 'तहाँ' अर्थात् आनेके स्थानको पहले कहकर और इसके बाद 'आईं' कहकर कविवरने इनकी इस मन्द गतिकी ओर संकेत किया है।

मुनि विश्वामित्रजीके साथ दोनों कुँवर जा रहे हैं। मार्गमें गङ्गाजी पड़ती हैं।

गाधि सूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥

गङ्गाजीके पृथ्वीपर आनेकी कथा बड़ी लम्बी है। अन्य रामायणोंमें इसका विस्तृत वर्णन है। कैसे श्रीहरिके चरणोंसे निकलकर गङ्गाजी भूलोकपर आयीं, इसका सविस्तर वर्णन [illegible]जीने किया। इस धीरे-धीरे क्रमशः गङ्गाजीके इस लोकमें आनेकी सविस्तर कथाका संकेत कविवरने 'महि आई' कहकर किया है जिसमें आनेके स्थान 'महि'का उल्लेख पहले है और आनेकी क्रिया 'आई' बादमें लिखी है।

भरतजी अनुजसहित ननिहालसे अवध आ चुके हैं। मातासे उनकी भेंट हो चुकी है। अपनी कार्यकुशलताकी कहानी जिससे भरतजीको राज्य प्राप्त करवाया था और जिसमें—

भै मंथरा सहाय बिचारी।

माता कैकेयी भरतजीको अबतक सुना चुकी होंगी, यह सोचकर उसकी प्रतिक्रिया देखने—

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।

इस समय मन्थरा यहाँ एक मनोवैज्ञानिक प्रेक्षककी भाँति सजग होकर धीमे-धीमे आयी। इसकी चालकी गति 'तहँ आई' से स्पष्ट है जिसमें आनेका स्थान 'तहँ' पहले लिखा है और आनेकी क्रिया 'आई' बादमें है जो मन्द गतिका संकेत है।

रानी कैकेयी किसी उद्वेगमें, किसी क्षणिक उत्तेजनावश कोपगृहमें नहीं गयीं। मन्थराने—

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु॥

और चलते-चलते अन्तिम शिक्षा यह दी—

काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु।

इसलिये कैकेयी रानी बड़े पक्के निश्चयसे 'काजु सँवारेहु' के लिये सजग होकर, दृढ़संकल्प होकर कोपभवनमें गयीं। यह अडिग निश्चय और संकल्पकी दृढ़ता उनकी मन्द चालसे स्पष्ट है—

कोपभवन गवनी कैकेई।

कविवरने जानेके स्थान 'कोपभवन' का उल्लेख पहले किया है और जानेकी बात 'गवनी' बादमें कहकर रानीकी इस मन्द गतिसे हमें सूचित किया है।

अब इस बातको दूसरे रूपसे विचार कीजिये।

'अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं' पवनसुत और 'भूधराकारसरीरा' वाले कुम्भकर्णका युद्ध हो रहा है। कुम्भकर्ण-का शरीर कैसा वज्र-सा कठोर है, यह इस बातसे अनुमान किया जा सकता है कि—

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा॥
मुर्‌यो न मनु तनु टर्‌यो न टार्‌यो। जिमि गज अर्क फलनिको मार्‌यो॥

जब हनुमान्‌जी और कुम्भकर्ण लड़ते हैं तो एक दूसरेको घूँसा मारते हैं। फलस्वरूप दोनों पृथ्वीपर गिर जाते हैं। हनुमान्‌जीके घूँसेसे कुम्भकर्ण धरतीपर गिर जाता है, कुम्भकर्णके घूँसेसे हनुमान्‌जी भूमिपर गिर पड़ते हैं। परंतु कुछ अन्तर है। कविवर कहते हैं—

तब मारुतसुत मुठिका हन्यो। परयो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यो॥
पुनि उठि तेहिं मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता॥

कविवरकी शब्दावलीपर विचार कीजिये। हनुमान्‌जीने कुम्भकर्णको घूँसा मारा। वह 'परयो धरनि'। यहाँ गिरनेकी क्रिया 'परयो' पहले कही और गिरनेका स्थान 'धरनि' को क्रियाके बादमें कहा। इसका अर्थ कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी सांकेतिक भाषामें यह हुआ कि घूँसा लगते ही फौरन उसी क्षण कुम्भकर्ण पृथ्वीपर गिर गया। अब कुम्भकर्णके घूँसेका फल क्या हुआ? कविवर कहते हैं कि हनुमान्‌जी 'भूतल परेउ' भूमिपर गिर गये। यहाँ गिरनेका स्थान 'भूतल' पहले लिखा है और गिरनेकी क्रिया 'परेउ' बादमें। कविवरके इस प्रकारके लिखनेका अर्थ यह है कि हनुमान्‌जीको भूमिपर गिरनेमें देर लगी। बहुत देर तो नहीं लगी। पहले चक्कर आया फिर गिरे। गिरे तो जल्दी ही—'परेउ तुरंता'—परंतु फिर भी कुम्भकर्णके समान घूँसा लगते ही तत्क्षण ही नहीं गिर गये। इस प्रकार बड़ी सूक्ष्म रीतिसे कविवरने हनुमान्‌जीका कुम्भकर्णसे अधिक बलवान् होना हमें संकेतद्वारा बतलाया है। कुछ टीकाकार कहते हैं कि यहाँ श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने हनुमान्‌जी और कुम्भकर्णको एक दूसरेके घूँसेसे गिरना दिखाकर दोनोंको समान बलवाले दिखाया है। परंतु ऐसी बात नहीं है। यह टीकाकारोंकी अपनी समझ है; क्योंकि वे अनुपम कलाकार कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके सूक्ष्म संकेतको समझ नहीं पाये।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि आने-जाने-चलने-गिरनेकी शीघ्र अथवा मन्द गतिका संकेत शब्दोंद्वारा नहीं बल्कि शब्दोंके आगे-पीछे करनेसे कविवर हमको प्रदान करते हैं।

(क्रमशः)

'निष्पाप मन'

(रचयिता—विद्यावाचस्पति डाक्टर श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०)

पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मनमें!
सम्पति भर-पूर कमाऊँ, चाहे सर्वस्व गँवाऊँ,
सुख हो या दुःख उठाऊँ, जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ,
नगरीका नागर बनूँ, बसूँ या वनमें—
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मनमें!
परिवार भले ही छोड़े, जन-जनता नाता तोड़े,
सत्ता सब तीत निचोड़े, सौभाग्य-स्नेह मुख मोड़े,
कष्टोंका कोप रहे कितना ही तनमें—
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मनमें!
दुखियोंके दुःख निवारूँ, पतितोंपर प्रेम प्रसारूँ,
बल सदा सत्यका धारूँ, बन भीरु न हिम्मत हारूँ,
हो जरा-जीर्ण तन, या उमंग यौवनमें,
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मनमें!
अन्याय-अनीति मिटाऊँ, सेवा-सन्मार्ग सुझाऊँ,
सद्भाव-सुधा बरसाऊँ, शुचिता-समता सरसाऊँ,
यश हो या अपयश मिले मुझे जीवनमें,
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मनमें!

सूर्योपासना और उषःपान

(लेखक——श्रीशम्भूनाथजी वि० वाशिसकर)

विश्वके समस्त देशोंपर यदि दृष्टिपात किया जाय तो विदित होगा कि सभी जगह किसी-न-किसी रूपमें उपासना करनेकी प्रथा प्रचलित है । उपासनाका अर्थ होता है—अपनी समस्त मानसिक क्रियाओंको एक स्थानपर अपने मनमें एकत्रित कर अपने अभीष्टकी साधना करना । पूजा करनेवाले दो श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । पहली श्रेणीमें वे लोग हैं जो नित्यप्रति पूजन करते हैं तथा दूसरी श्रेणीमें वे हैं जो खास-खास विशेष त्यौहारोंपर पूजन करते हैं । किंतु दोनों श्रेणियोंके पुजारियोंमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो उपासनाका वास्तविक अर्थ जानते हों । जनसाधारणमें परम्परागत प्रथाको सुचारु रूपसे संचालित करते रहनेकी ही भावना प्रधानतः पायी जाती है । जिस प्रकार शारीरिक क्रियाशील शक्तियोंको दीर्घकालतक सुरक्षित रखनेके लिये अनवरत कठिन परिश्रमके उपरान्त आरामकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओंको भी कुछ कालके लिये शान्ति देना नितान्त आवश्यक होता है और वह शान्ति पूजन अथवा उपासनासे ही प्राप्त की जा सकती है । मानसिक क्रियाओंको हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं । वे मानसिक क्रियाएँ जो चेतनावस्थामें होती हैं तथा दूसरी वे जो अचेतनावस्थामें होती हैं । अतएव मनुष्यकी मानसिक क्रियाएँ किसी-न-किसी रूपमें सदैव होती रहती हैं, उसे कुछ कालके लिये विश्राम देकर आत्माको परमात्माके रूपमें मिला देना ही उपासनाका यथार्थ रूप है । उसके लिये मनुष्यको कठिन परिश्रम करना पड़ता है और उसके लिये हमारे यहाँके ऋषियोंने पूजन या उपासनाके कुछ नियम आविष्कार किये थे और वे नियम बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे ।

× × ×

हमारे यहाँके ऋषिगण समुद्रतटों, नदीके किनारों तथा जंगलोंमें आश्रम बनाकर उपासना किया करते थे । वे लोग अद्वैतवादी होते थे । उन्हें अपनी आत्माको निर्विकार तथा आत्मरूप बनाकर परमात्मामें लीन होनेमें किसी माध्यमकी आवश्यकता नहीं होती थी । वे प्रकृतिके पुजारी होते थे तथा उन्हीं वस्तुओंकी उपासना करते थे [illegible]द्वारा उनका यथार्थ उपकार होता था । वे अपनी उपासनाकी पद्धतियोंको केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखते थे, वरं अपने आश्रमोंद्वारा उसका प्रचार कर जनताका भी कल्याण करते थे । वह समय सहस्रों वर्ष पूर्वका था; किंतु जबसे भारतवर्षमें विदेशियोंने शासन आरम्भ किया, तभीसे अध्यात्मवादका नाश होना आरम्भ हुआ तथा मनुष्योंमें धनलोलुपता, स्वार्थपरता, मिथ्यावादिता, चरित्रहीनता आदि जडवादी अवगुणोंका समावेश होना आरम्भ हुआ । इस तथ्यका ज्ञान जब हमारे ऋषियोंको हुआ, तब उन्होंने द्वैतवाद अर्थात् अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये किसी माध्यमकी आवश्यकताका अनुभव किया और इस तथ्यको दृष्टिगत रखते हुए मूर्तिके रूपमें भगवान् या देवताओंकी पूजाका आविष्कार हुआ ।

× × ×

आजतक सभ्यसमाज सूर्योपासनाके महत्त्वको न तो जानता ही है और न मानता ही है; बल्कि जो लोग सूर्योपासना करते हैं, उनकी मखौलतक उड़ाता है; किंतु आज हम भले ही इस विषयकी जानकारी न रखते हों, लेकिन पाश्चात्त्य देशके विद्वान् आज इसके महत्त्वके अनुसंधानमें लगे हुए हैं, जिसका हमारे यहाँके पूर्वजोंने आजसे युगों पहले ही अनुसंधान कर लिया था । पाश्चात्त्य चिकित्सा-विशारदोंका मत है कि सूर्य हमारा रक्षक है । हमारी जीवन-शक्तिके लिये सूर्यकी रश्मियोंमें 'अल्ट्रा वायलेट रे' नामकी किरणोंकी बहुत ही आवश्यकता है । ये किरणें बाल-रविसे निकली हुई रश्मियोंमें पायी जाती हैं । इनसे हमारी जीवनी शक्तिका विकास होता है और इसीलिये प्रातर्भ्रमण स्वास्थ्यके लिये बहुत ही लाभदायक माना गया है । केवल भारतीय विद्वानोंने ही नहीं, बल्कि पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी इसका प्रतिपादन किया है—

Early to bed and early to rise,
Makes a man healthy, wealthy
and wise.

सो जाता जो शीघ्र ही, उठता शीघ्र सुजान ।
स्वास्थ्य, समृद्धि, सुबुद्धिको पाता वह मतिमान ॥

सूर्यरश्मियोंसे हमारा शारीरिक लाभ

हमारे शरीरमें दो प्रकारके जीवाणु पाये जाते हैं ।

इनमें एक रोगकारक तथा दूसरे रोगनाशक हैं। रोगकारक जीवाणु सूर्यकी रश्मिमें अपना जीवन नहीं रख सकते तथा क्रमशः उनकी क्रियाशील शक्तियोंका ह्रास होता जाता है। रोगकारक जीवाणुओंकी वृद्धिमें कार्बन-डाई-आक्साइड—अन्धकारपूर्ण स्थान, नम जमीन बहुत ही महत्त्वपूर्ण सहयोग देता है। यदि आप किसी कमरेको एक लंबे अर्सेके लिये बंद कर दें तो कुछ समयके पश्चात् उस स्थानसे एक अप्रियकर दुर्गन्ध आने लगेगी तथा जाले वगैरह पड़ जायँगे, जो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बहुत ही नुकसान पहुँचानेवाले हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके जीवनके लिये सूर्यकी रश्मियाँ नितान्त आवश्यक हैं। इसके द्वारा मनुष्य शक्ति, बल तथा नीरोगता भी प्राप्त करता है। यही कारण है कि महलोंमें रहनेवाले धनियोंकी अपेक्षा कड़ी धूपमें काम करनेवाले किसान कहीं अधिक सुखी तथा नीरोग होते हैं। यहींतक नहीं, वरं प्राकृतिक चिकित्साके अन्तर्गत एक विभाग है, जिसे सूर्यकिरण-चिकित्सा वा वर्ण-चिकित्सा कहते हैं। कुछ बोतलोंमें, जो कि विभिन्न रंगोंकी होती हैं, जल भरकर उनमें सूर्यकी रश्मियाँ एकत्रित की जाती हैं तथा उस जलके द्वारा विभिन्न रोगोंकी चिकित्सा की जाती है। सिर्फ भारतवर्षमें ही नहीं, बल्कि विदेशोंमें भी 'क्रोमोपैथी'के नामसे यह चिकित्सा काफी लोकप्रिय है। आप दूधको यदि सूर्यकी रश्मियोंमें रख दें तथा कुछ समयके पश्चात् अणुवीक्षण-यन्त्रद्वारा निरीक्षण करें तो आप देखेंगे कि उनमें कुछ कीड़े-से रेंग रहे हैं। ये भी स्वास्थ्यके लिये बहुत ही लाभदायक हैं। इनके द्वारा रोगकारक जीवाणु शीघ्र ही नष्टप्राय हो जाते हैं। उपर्युक्त कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि सूर्यकी रश्मियोंसे हमारा बहुत कुछ शारीरिक उपकार होता है और यदि हम पूर्वजोंके मतानुसार सूर्यकी उपासना करें तो मानसिक लाभके साथ-ही-साथ शारीरिक लाभ भी प्राप्त हो सकता है। हमारे यहाँके महात्मागण पूजा एवं उपासनाके समय ताम्रपात्रका व्यवहार करते थे। यों तो यह बात मामूली है; किंतु गौर करनेपर ज्ञात होगा कि इसके व्यवहारके पीछे भी एक वैज्ञानिक तत्त्व कारण है।

× × ×

विज्ञानके जानकार सभी व्यक्ति जानते हैं कि विद्युत्की उत्पत्ति आकाशसे होती है। यदि पावर-हाउसमें जाकर देखा जाय तो आप देखेंगे कि सभी विद्युत्-ग्राह्य यन्त्र ताँबेपर आधारित हैं। अर्थात् ताँबेमें विद्युत्को आकर्षित करनेकी शक्ति प्रचुर मात्रामें पायी जाती है और यदि प्राचीन महलोंका निरीक्षण किया जाय तो वहाँपर भी महलोंके उच्च स्थानपर आपको एक ताँबेकी छड़ गड़ी हुई दिखायी देगी ताकि उसपर विद्युत्का कोई असर न हो। इतने प्रमाणोंपर भी यदि विश्वास न हो तो हमारे महर्षियोंद्वारा उषःपानके बताये हुए तरीकेको अमलमें लाते हुए यदि नित्य उषःपान करें तो कुछ ही दिनोंमें इसका महत्त्व अपने-आप आपकी समझमें आ जायगा।

× × ×

एक सूखे काठपर ताँबेके बर्तनमें जल भरकर रात्रिको (खासकर शीतकालमें जब कि ओस गिरती हो) किसी पतले कपड़ेसे ढककर रख दें और उस जलको प्रातः सूर्योदयके साथ पी लिया जाय। इससे प्रथमतः तो सर्दी मालूम हो सकती है किंतु क्रमशः अभ्यास हो जानेपर कुछ नहीं होगा। इसके द्वारा शरीरमें बल, स्फूर्ति आदिका अनुभव होगा। इस जलको पीते समय काष्ठपादुका (खड़ाऊँ) का व्यवहार अवश्य करना चाहिये और इस बातका ध्यान भी रखना बहुत ही आवश्यक है कि जिस तख्तेपर पानी रक्खा गया हो और जो खड़ाऊँ पहना गया हो उसमें लोहेका व्यवहार किसी भी रूपमें नहीं किया गया हो। अन्यथा इसका सारा असर समाप्त हो जायगा। साथ ही यदि नंगे पैर खड़े होकर भी आप इस पानीको पीयेंगे तो भी इसका असर कुछ अंशोंमें कम हो जायगा।

हंसोदक

यह एक विशेष पद्धतिसे सूर्यकिरणोंको एकत्रित किया हुआ पानी है। इसका शरीरके अवयवोंपर अपना एक खास महत्त्व है। इसकी विधि इस प्रकार है—एक चौड़े मुँहवाले कम ऊँचाईवाले बर्तनमें शुद्ध पानी भरकर केलेके पत्तेसे ढक दिया जाय। केलेका पत्ता न मिले तो किसी दूसरे हरे रंगके पत्तेसे उस बर्तनको ढक देना चाहिये और उसे सूर्यकी रश्मियोंमें दिनभर रखना चाहिये। फिर उसी पानीको रातभर ओसमें रखकर दूसरे दिन इसका व्यवहार किया जाना चाहिये। यह स्वास्थ्यके लिये बहुत ही उपकारी है। यह जल पिया भी जा सकता है (थोड़ी मात्रामें) अथवा इससे स्नान भी किया जा सकता है। स्नानके लिये यह थोड़ा-सा पानी दूसरे साधारण पानीमें मिलाकर ही स्नान करना चाहिये।

उपर्युक्त तथ्योंको दृष्टिगत रखते हुए यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि प्रातःकालीन सूर्योपासना तथा उषःपान मनुष्यकी जीवनीशक्तिपर अपना खास महत्त्व रखता है और यदि आजके फैशनेबुल व्यक्ति 'बेड टी' (बिस्तरकी चाय) के स्थानपर उषःपानका अभ्यास डालें तो निश्चित रूपसे उनकी जीवनीशक्तिका उत्थान होगा।*

वैज्ञानिक और भक्त

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

'मैं वाष्पको वशमें करनेका प्रयत्न करता हूँ। इसकी शक्तिके द्वारा ही लौहपथी, जलयान और बड़े-बड़े पुतलीघर चलाये जाते हैं।'

'इससे भी एक महान् शक्ति है, मैं उसे वशमें करनेका प्रयत्न करता हूँ।'

'अच्छा, आप विद्युत्की बात कर रहे हैं?'

'उससे भी महान्।'

'आपका अभिप्राय आणविक शक्तिसे है?'

'उससे भी कहीं अधिक महान्।'

'इससे ऊपर किसी शक्तिका मुझे ज्ञान नहीं। आप कुछ थोड़ा बहुत मुझे बतला दें तो बड़ी कृपा होगी।'

'क्या वाष्प, विद्युत् तथा आणविक शक्ति भी कभी मानवको वशमें करनेका प्रयत्न करती है?'

'नहीं, ये शक्तियाँ जड हैं। मैं आपका आशय समझ गया। आप कहना चाहते हैं कि मानवीय शक्ति वाष्प, विद्युत् एवं आणविकशक्तिसे कहीं अधिक महान् है; क्योंकि मानव न केवल अपनी ही शक्तिसे लाभ उठाता है बल्कि प्रकृतिकी समस्त शक्तियोंपर नियन्त्रण करके उनसे भी लाभ उठानेमें सफल होता है। निःसंदेह मानवीय शक्ति सब शक्तियोंसे ऊपर है।'

'परंतु उसे तो आपने वशमें नहीं किया। जबतक मानवीय शक्ति नियन्त्रणमें न आये तबतक आपकी ये सब शक्तियाँ वाष्प, विद्युत् एवं आणविक कब विश्वका विनाश कर बैठें, कहा नहीं जा सकता।'

'उसे भी नियन्त्रणमें लानेका प्रयत्न हो रहा है, परंतु अभीतक सफलता प्राप्त नहीं हुई। क्या आप कोई ऐसा उपाय बतला सकते हैं?'

'एक सर्वोपरि सत्ता और है। उसे वशमें लानेका प्रयत्न करें तो वाष्प, विद्युत् और आणविक शक्तिके साथ-साथ सारी मानवीय शक्ति भी आपके नियन्त्रणमें आ जायगी।'

'उसे मैं जानना चाहता हूँ।'

'वह शक्तिका अक्षय भण्डार है, जहाँसे जड और चेतन दोनों शक्ति प्राप्त करते हैं। समग्र शक्तियोंका मूल स्रोत है—जिसका द्वार बंद हो जानेपर वाष्प अपनी उष्णता छोड़ देता है और विद्युत्का प्रवाह रुक जाता है।'

'मेरा किसी ऐसी सत्तामें विश्वास नहीं।'

'इसमें तो विश्वास है कि सारी प्रकृतिके पीछे एक ही तत्त्व है?'

'यह तो विज्ञानसिद्ध है।'

'तो क्या फिर यह सम्भव नहीं कि सारे प्राणियोंके पीछे भी एक ही तत्त्व हो और फिर इन जड और चेतनके पीछे भी एक ही तत्त्व हो और वह एक मूल तत्त्व चेतन ही हो सकता है, जड नहीं।'

'हम चेतनकी उत्पत्ति भी जडसे ही मानते हैं। अतः जब यह सिद्ध हो गया कि सारे जडके पीछे एक ही तत्त्व है तो प्रकारान्तरसे यही सिद्ध समझें कि सारे जड और चेतनके पीछे एक ही तत्त्व है। आप उसे चेतन मानते हैं, हम जड।'

'जब जडसे चेतन हो सकता है तो चेतनसे जड भी। चुम्बकसे विद्युत् उत्पन्न हो सकता है तो विद्युत्से चुम्बक भी। अब देखना है कि सृष्टि मूलमें जड है या चेतन। स्वयं डार्विनके अनुसार जीवधारियोंके शरीरमें जो-जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे उनकी कामनाके अनुसार ही हुए हैं और कामना केवल चेतनमें ही होती है, जडमें नहीं। यदि मूल तत्त्व जड होता तो सृष्टिमें न निर्माण होता, न प्रलयके पश्चात् पुनः निर्माण; न विकास, न पतन। यह काल स्थिर रहता और चक्र-जैसा घूमता नहीं।'

'यह प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं। आपकी बात न तो इन्द्रिय-गम्य है और न बुद्धि-गम्य ही।'

* जो सज्जन उपर्युक्त विधिके अनुसार उषःपान अथवा हंसोदक जलका व्यवहार कर रहे हों अथवा इसे पढ़कर करें वे इस विषयमें अपने व्यक्तिगत अनुभव यदि लेखकको सूचित करें तो लेखक अनुगृहीत होगा। लेखकका पता है—३ पथरियाहट्टा स्ट्रीट, कलकत्ता ६.

'परंतु श्रद्धागम्य है। इन्द्रियोंकी सीमा है। सम्पूर्ण सत्य इन्द्रियगम्य नहीं। आज भी पृथ्वीका अपनी धुरीपर घूमना, अनेक सूर्योंका होना तथा सूर्यसे भी बड़े तारोंका होना केवल बुद्धिगम्य है, इन्द्रियगम्य नहीं। बुद्धिकी भी सीमा है। जिस प्रकार सम्पूर्ण सत्य इन्द्रियगम्य नहीं, उसी प्रकार सम्पूर्ण सत्य बुद्धिगम्य भी नहीं। प्रकृतिने मनुष्यको श्रद्धा अकारण ही नहीं दी।'

'श्रद्धा अन्ध भी तो होती है।'

'बुद्धि भी अन्ध होती है। क्या संसारमें कुबुद्धि और कुमति-जैसी कोई वस्तु नहीं है? सभी तथ्य एक साथ ही श्रद्धा, बुद्धि और इन्द्रियगम्य नहीं हो जाते। इन्द्रियाँ भी सारी-की-सारी एक साथ ही किसी वस्तुको ग्रहण नहीं कर पातीं। रात्रिमें दूरसे आती हुई गाड़ीका पहले प्रकाश दिखलायी देता है, फिर गड़गड़ाहट सुनायी देती है; क्योंकि प्रकाशकी गति शब्दसे तीव्र है। इसी प्रकार श्रद्धाकी गति बुद्धिसे कहीं अधिक तीव्र है। ईश्वर बुद्धिके लिये अगम्य है, बुद्धिके विरुद्ध नहीं। वह पहले श्रद्धामें आता है, फिर बुद्धिमें और फिर इन्द्रियगोचर भी हो जाता है। बुद्धिके द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी वह श्रद्धासे हटाये नहीं हटता। रूपका उदाहरण आपके सामने है।'

'ईश्वरको नहीं माना जाय तो क्या हानि है? इस आस्थाके बिना भी तो धन-वैभव, स्त्री-पुत्र, अधिकार-सत्ता सब कुछ प्राप्त हो सकता है और हो रहा है।'

'स्त्रीका प्राप्त होना ही सब कुछ नहीं, पुंस्त्व भी चाहिये। स्वादिष्ट भोजन ही ध्येय नहीं, उसे पचानेकी शक्ति भी चाहिये।'

'हमारे पास पुंस्त्व भी है और हमारी जठराग्नि भी प्रबल है।'

'परंतु आपके पास तृप्ति नहीं। अनेक भोग भोगकर भी आप तुष्ट नहीं। यही आवश्यक नहीं कि हमारे पास धन, स्त्री और वैभव तथा उन्हें भोगनेकी शक्ति हो। यह भी आवश्यक है कि हम उन्हें पाकर तृप्तिका अनुभव करें। हमारा सुख और ऐश्वर्य प्रेम और सद्भावनाको जन्म दें। ईर्ष्या, विवशता और द्रोहको नहीं। और यह सब आस्तिकता अथवा अध्यात्मके बिना सम्भव नहीं। क्या कभी आप परलोकके विषयमें भी कुछ सोचते हैं।'

'मैं परलोकमें विश्वास नहीं रखता। शरीरके साथ-ही-साथ चेतनका भी नाश हो जाता है।'

'कामना कारण है, शरीर कार्य। कार्यके नष्ट होनेपर कारण नष्ट नहीं हुआ करता। अपितु, वह दूसरे कार्योंको जन्म देता रहता है। मृत्युकालमें भी कामना नष्ट होती हुई नहीं देखी जाती। जबतक ऐसी कामनाएँ हैं जो शरीरके बिना पूर्ण नहीं हो सकतीं, तबतक एक शरीर छूटनेपर दूसरा शरीर प्राप्त होता रहेगा। जिन कामनाओंकी पूर्ति मानवशरीरमें सम्भव नहीं, उनकी पूर्तिके लिये यह जीवात्मा पशु, पक्षी, नारकीय तथा देवयोनिके शरीर प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और जब कोई कामना नहीं रहती तो यह मुक्त होकर अपने आनन्दमय रूपको प्राप्त हो जाता है। शरीर कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही तो चाहिये। जब कोई कामना नहीं, तो किसी भी शरीरमें बद्ध होनेकी क्या आवश्यकता है?'

'मुक्तिकी अपेक्षा यदि सभी जीवोंको सुखी करनेका आप प्रयत्न करें तो कहीं अधिक अच्छा हो।'

'मृत्युका दुःख क्या कोई दुःख नहीं है? उस दुःखको मिटानेका प्रयत्न क्या जीवोंको सुखी करना नहीं है? मृत्युके भयके कारण ही लोग धर्मयुद्ध और बलिदानसे डरते हैं, आततायियोंसे घबराते हैं और समाजमें अनैतिक आचरण एवं अन्यायको सहन करते रहते हैं। मृत्युका कष्ट ही इष्ट-वियोगको जन्म देता है। इसकी आशङ्का ही मनुष्यको दीन-हीन और विक्षिप्त तक कर देती है। यदि कोई ऐसा मार्ग निकाल लिया जाय कि मरते समय किसी भी प्रकारका कष्ट न हो, वह आनन्दकी वस्तु बन जाय तो क्या आपकी समझमें संसारके कष्टोंमें कोई कमी नहीं होगी? और इसका उपाय है आस्तिकवाद अथवा अध्यात्म। इस आस्थाका अभ्यास कि परमात्मा जो कुछ करता है, कल्याणके लिये ही करता है, मृत्यु भी कल्याणके लिये आती है। अथवा अनासक्ति, जिसकी स्त्री-पुत्र, धन-वैभव किसीमें भी कोई आसक्ति नहीं रही, उसे उनसे बिछुड़ते समय कोई कष्ट नहीं होता। जिसकी कोई कामना नहीं होती, उसे शरीर छोड़नेमें कोई कष्ट नहीं होता। शरीरकी आवश्यकता केवल कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही है। आप लोक-परलोक एवं मुक्तिको मत मानिये, परंतु यदि आप चाहते हैं कि मरते समय प्राणी कष्टका अनुभव न करें, जीवनके इस बड़े दुःखपर भी वे विजय प्राप्त कर सकें तो आपको वही मार्ग अपनाना होगा जो मुक्तिमार्गपर चलने-वालोंके लिये बतलाया गया है।'

उदात्त संगीत

(रचयिता—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र एम्० ए०)

(१) वीणाके स्वर

अन्तरके तारोंपर जब झनकारें होतीं,
तब एक नई-सी गूँज काव्य बन आती है।
जब व्यथा छेड़ती तार, करुण कूजन करती,
जब छूती उन्हें उमंग, पिकी तब गाती है ॥१॥

रोना अभावके साथ, भावके साथ हँसी;
करुणाका भी उद्देश्य अभाव मिटाना है।
मन जब अभावको जीत भावपर टिकता है,
खिलता तब जीवन-सत्य उमंगी गाना है ॥२॥

जब भाव नियम, अपवाद अभाव कहाता है,
तब हास और संगीत नियम हैं जीवनके।
जो सच्चे अर्थोंमें हैं जीना चाह रहे,
वे स्वामी हो लें प्रथम उमंगोंके धनके ॥३॥

बूँदें नभकी शीतलता ले जगपर आतीं,
दूर्वा बढ़ जगकी हरियाली दिखलाती है।
दोनोंकी मस्ती विहगोंकी लयसे मिलकर,
सायं-प्रातःके स्वरके साज मिलाती है ॥४॥

आरोही स्वर है सुख, तो दुख अवरोही स्वर,
चैतन्य-जगत् आनन्द-राग यों गाता है।
इस वृन्द वाद्यमें तू भी तो सम्मिलित मनुज,
फिर अपनी वीणा क्यों बेसुरी बजाता है ॥५॥

पशुओंके संस्कारोंकी बात निराली है,
भैंसोंने कब वीणाके स्वरका सुख माना।
पर मानव किस निश्चयसे यह कह सकता है,
'मैंने तो भार-वहन ही जीवन-क्रम जाना' ॥६॥

पशु भी तो चिन्ताहीन बिता देते जीवन,
उनमें संतोषी भाव शान्ति निज भरता है।
वे भी सहयोगी मित्र बने रह सकते हैं,
फिर मनुज व्यग्रतानलमें क्यों जल मरता है ॥७॥

किसने रोका है उसे कि वह न शान्ति भोगे,
किसने उसकी शाहंशाहीको कैद किया।
वह आप समझता है बँधुवा बेचारा हूँ,
अपनी शह देकर खुद अपनेको मात दिया ॥८॥

ऊँचे चढ़कर यदि वह अपनी वीणा छेड़े,
उसको तो वह स्वर-लहरी मस्त बनायेगी।
पर निश्चय ही उन मस्त तरंगोंमें बहकर,
नीचेकी दुनिया भी प्रशान्ति पा जायेगी ॥९॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदारी

करीब १० साल पहलेकी बात है। उड़ीसाकी एक फर्म श्रीनन्दराम हुनतरामकी कटक शाखामें महावीरप्रसाद नामका एक व्यक्ति रोकड़ियाका काम करता था और उस समय मैं था वहाँ अकाउंटेंट। एक दिन रोकड़में ५०० रु० कम हो गये। उसने डरते-डरते मुझसे कहा कि 'मैं तो मारा गया, आज रोकड़में ५०० रुपये घट रहे हैं।' मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि 'कहाँ जायँगे ? नोटोंकी गिनतीमें या रोकड़के जोड़में कहीं भूल रह गयी होगी।' उसने तथा मैंने मिलकर रोकड़के जोड़की अच्छी तरह जाँच कर ली तथा नोट भी गिन लिये एवं उस दिन जिन लोगोंको भुगतान दिया गया था, उनसे भी पूछ-ताछ कर ली गयी। कहीं भी पता नहीं चला। रोकड़-घटतीका मामला सेठजीके कानोंमें तो पहुँचना ही था। वे रोकड़ियापर लाल-पीले हुए। बादमें कहा-सुनी करनेपर उन्होंने तय किया कि २५० रुपये बट्टा-खातामें डाल दिये जायँ और २५० रुपये रोकड़ियासे वसूल किये जायँ, जिससे वह भविष्यमें गलती न करे। इस घटनाके कुछ दिन पश्चात् ही रोकड़िया छुट्टी लेकर अपने घर चला गया। उसकी जगह दूसरा रोकड़िया रक्खा गया, उसका नाम था रामावतार। उपर्युक्त घटनाके करीब चार मास पश्चात् रामावतार एक दिन रोकड़ मिला रहा था। गोडरेजकी तिजोरीके दराजमें रक्खे नोटोंको गिननेके लिये ज्यों ही उसने दराज बाहर निकालकर अलग रक्खा, दराजके नीचेके हिस्सेमें एक दबा हुआ १०० रुपयेका नोट उसे दिखायी दिया। फिर उसने दराजके नीचे हाथ डालकर टटोला तो सौ-सौ रुपयेके चार नोट और निकले। दराजको कभी भी बाहर नहीं निकाला जाता था। उस दिन संयोगवश रोकड़ियाके मनमें न जाने क्या जँची, उसे बाहर निकाल लिया। झटपट रोकड़ मिलाकर वह सेठजीके पास पहुँचा और पाँचों नोट उनके हाथमें ठहराकर बोला कि 'ये नोट तिजोरीकी दराजके नीचे मिले हैं।' सेठजीको पहले तो आश्चर्य हुआ, बादमें समझ गये कि ये रुपये वे ही हैं जो महावीरप्रसादसे कम हुए थे। रखते-निकालते समय रुपये दराजके नीचे चले गये। यदि दराज पूरा बाहर न निकाला जाता तो रुपये वहीं पड़े रहते और न जाने कब किसके हाथमें पड़ते ? यदि इस रामावतारके मनमें बेईमानी आ जाती तो यह इन रुपयोंको हड़प सकता था।

सेठजीने रामावतारकी ईमानदारीपर प्रसन्न होकर उसे उनमेंसे २५० रुपये देना चाहा, लेकिन उसने यह कहकर 'यह तो मेरा फर्ज था, मुझे इसके लिये इनाम नहीं चाहिये'—लेनेसे इन्कार कर दिया।

—पूर्णेन्दु भालचन्द्रका

(२)

गुणग्राहकता

वली मैनेजर साहेबका पुराना स्वामिभक्त नौकर था। गत छब्बीस वर्षोंसे वह पूरी वफादारीके साथ लगातार सेवा कर रहा था। साहेबका बहुत विश्वासी था और उनकी व्यक्तिगत कार वही चलाता था।

वह वली आज हवेलीसे आकर गाड़ीको पोर्चमें खड़ी रखनेके बदले गैरेजमें ले गया और गाड़ीमेंसे उतरते ही जब उसने गाड़ीकी पिछली सीटपर बैठी हुई साहेबकी पत्नीको देखा तो उसको क्षोभ हुआ। तुरंत ही गाड़ीमें बैठकर वह गाड़ीको पोर्चमें ले आया। मैनेजर महोदयकी पत्नीको इससे कुछ आश्चर्य तो हुआ, पर वे इतनी सौम्य स्वभावकी तथा प्रौढ़ थीं कि उक्त घटनाको कोई महत्त्व न देकर गाड़ीसे उतरते ही सीधी बँगलेमें चली गयीं।

परंतु वली ! वलीने आज यह पहली भूल की थी। उसके पश्चात्तापका पार नहीं था। वह गाड़ी गैरेजमें रखकर सदाकी तरह चाभी नायकको सौंपकर घर चला गया। साहेबके आफिस जानेके समय भी वली नहीं आया। स्कूल और कालेज जानेवाले साहेबके बच्चोंको भी कोई दूसरा ही ड्राइवर पहुँचाकर आया। बार-बार गैरहाजिर रहनेवाले नौकरके लिये तो इसमें कोई नयी बात नहीं, पर वलीके सम्बन्धमें तो यह बिल्कुल नयी बात थी। बँगलेमें वली-ही-वली चर्चा होने लगी। संध्याको जब साहेब लौटे तब तो चर्चाका विषय केवल वली ही हो गया। साहेबकी पत्नीने जब सबेरेकी घटना सुनायी तब पहले तो साहेब खूब ही लाल-पीले हो गये और वलीको चाहे जहाँसे पकड़ लानेका आदेश दे दिया। परंतु साहेबकी बुद्धिमती पत्नीने वली-जैसे विश्वासी सेवकपर उससे बिना पूछे-ताछे जल्दीमें कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिये—ऐसा उनसे वचन ले लि...।

बली आया। अपराधी बली आया। बलीको बँगलेकी सीढ़ियोंपर चढ़ते देख साहेबके क्रोधकी सीमा नहीं रही। पत्नीने यह परख लिया और उन्होंने पतिसे पुनः वचन माँगा। साहेब कुछ नहीं बोले। खड़े होकर वे बगलके दूसरे कमरेमें चले गये और जल मँगाकर पीया।

इसी बीच बली दीवानखानेमें आ गया और साहेबकी पत्नीके चरणोंके पास बैठ गया, मानो ढेर हो गया। इसी समय साहेब वहाँ आ गये।

'बली!' इस अधिकारभरी आवाजसे बली काँप गया। वह खड़ा हो गया और साहेबके पैर पकड़ने जा ही रहा था कि उन्होंने उसे हाथोंमें थाम लिया और जैसे बाप बेटेसे मिलते हैं, वैसे वे उससे मिले। बली खुले मनसे रो पड़ा। जोर-जोरसे रो पड़ा। इधर मैनेजर साहेबकी आँखोंसे भी आँसू बह चले। बलीको खूब रोने दिया। उसका हृदय हल्का न हो जाय तबतक भरपेट रोने दिया। फिर उसे अपने पास बैठाया, जल पिलाया और स्वयं भी स्वस्थ हुए।

यह दृश्य अद्भुत था। अत्यन्त ही कड़े और तेज माने जानेवाले अधिकारीको एक नौकरसे, केवल चपरासीकी श्रेणीके नौकरसे आत्मीयताके साथ इस प्रकार मिलते और भरे हृदयसे रोते देखकर सबने उन अधिकारीमें महान् गुणकी झाँकी की।

'बली! बोल, बोल, मेरे अपराधकी तू मुझे क्या सजा करता है। पचीस-पचीस वर्षोंतक केवल तुझसे मैंने सेवा ली, पर कभी तेरे सुख-दुःखकी मनकी बात नहीं पूछी। मैं अपराधी हूँ। आज तू सजा दे, खुले मनसे, खुले हृदयसे, बिना कुछ दया किये मुझे सजा दे।' साहेबने कहा।

बली क्या बोलता? साहेबकी पत्नी तो चुपचाप खड़ी अपने पतिकी महत्ता देखकर चकित ही हो रही थीं। फिर भी उन्होंने बलीसे पूछा—'बली! क्या बात है?' और बलीने रोते-रोते कहा—'मैं बाल-बच्चेवाला आदमी हूँ। पत्नीकी बीमारीके कारण कुछ कर्ज हो गया था। अतः नौ सौ रुपयोंमें घरको गिरवी रक्खा था। महाजन अपने रुपये वसूल करनेके लिये कोर्टकी मारफत कुर्की ले आया। रुपयोंकी व्यवस्था न होनेके कारण आज मुझे अपने बाप-दादेका पुराना घर खाली करना था। इसी उपाधिके कारण मैं कर्तव्यसे चूक गया था।'

साहेब खड़े हो गये और बगलके कमरेमें जाकर चेकबुक ले आये एवं सादे चेकपर सही करके उन्होंने अपने सेक्रेटरीको बुलाकर कहा कि 'अभी कोर्टमें जजके पास जाकर जितनी रकम हो इस चेकमें भर दो और रुपये तुरंत कोर्टमें जमा करके, इसे अपने बाप-दादेका घर न छोड़ना पड़े, इसकी व्यवस्था करो। कदाचित् घर छोड़ दिया हो तो अपने खर्चसे इसके सामानको फिर घरमें पहुँचा दो, जिससे आजकी रात भी बली अपने बाप-दादेके घरमें ही रह सके। इसकी तुरंत व्यवस्था करो।' यों कहकर सेक्रेटरीको विदा किया और खड़े होकर बलीपर पिताकी-सी अमृतभरी दृष्टि डालते हुए वे अपने कामपर चले गये। 'अखण्ड आनन्द'

—हरिप्रसाद के. आचार्य

(३)

परहितव्रती सज्जन

[क]

बात है अबोहर (पंजाब) की। फूलचन्द बढ़ई मेरे पड़ोसमें रहता था। अच्छा कारीगर था। परिश्रमसे काम करके पाँच-सात रुपये प्रतिदिन कमाकर अपने वृद्ध पिता, वृद्धा माता और पागल भाईका भरण-पोषण करता था। सन् १९४७ के देशविभाजनके दंगेमें बम लगा और सारा शरीर घायल हो गया। अस्पतालमें पहुँचते ही डाक्टरने दाहिना हाथ काटकर उसका जीवन बचा लिया।

अब वह बढ़ईका काम नहीं कर सकता था। पड़ोसमें गोरखपुरके दो शास्त्री रहते थे। उनकी शरण पकड़ी और उन्होंने उसे दयाका पात्र समझकर पढ़ाना आरम्भ कर दिया। हिंदी-परिचय, हिंदी-कोविद, हिंदी-रत्न, हिंदी-भूषण और फिर प्रभाकरकी परीक्षा भी क्रमशः बायें हाथसे लिखते हुए उसने पास कर ली।

उस समय म्युनिसिपल हाईस्कूलमें लाला बेलीरामजी मुख्याध्यापक थे, उनको हिंदी-प्रभाकर-उत्तीर्ण व्यक्तिकी आवश्यकता थी। दया करके फूलचन्दको यह पद दे दिया और अस्सी रुपये मासिकपर वह काम करने लगा। वृद्ध माता-पिताको श्रवणकुमार मिल गया। दो वर्ष काम करनेके बाद O. T. स्पेशल ट्रेनिंगका सर्टिफिकेट भी मिल गया; परंतु सिविल सर्जनने Unfit कर दिया। नौकरीसे अलग होना पड़ा। बेचारे वृद्धोंका सहारा टूट गया। कई दिनोंतक

घरमें भोजन नहीं बना, सभी बैठकर रोते रहे। शास्त्रियोंको पता चला तो उन्होंने फूलचन्दको साथ लेकर पंजाबके हेल्थ आफिसर सरदार जगदीशसिंहजीके पास पटियाला राजेन्द्र हास्पिटलमें जाकर उन्हें सारी कहानी सुनायी। सरदारजीके नेत्रोंसे झड़ी लग गयी। उन्होंने देखा फूलचन्दने बायें हाथसे लिखकर अनेक परीक्षाएँ पास की हैं, इन्स्पेक्टर और हेडमास्टरके Remark अच्छे हैं। वार्षिक परीक्षाका परिणाम अच्छा है। केवल दाहिना हाथ नहीं है। शेष अंग सभी ठीक हैं। स्वास्थ्यमें कोई खराबी नहीं है। इससे उन्होंने समर्थन किया और फूलचन्दकी अपील स्वीकार करके उसे मेडिकल सर्टिफिकेट दे दिया और सिरपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! जाओ, मौज करो। जब कभी मेरी सेवाकी आवश्यकता पड़े, लिख भेजना।' फूलचन्दको नौकरी वापस मिल गयी। वृद्धोंका सहारा पुनरुज्जीवित हो गया। बेचारे प्रातःकाल उठकर सरदार जगदीशसिंहके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं। यद्यपि अब सरदारजी इस दुनियामें नहीं हैं, परंतु उनका यश आज भी खुले कण्ठोंसे गाया जाता है। बादमें तो सरदार साहबकी ऐसी अनेक घटनाओंका पता लगा कि आपने सैकड़ों अपाहिजों और दीन-दुखियोंका उद्धार किया है। धन्य हैं—ऐसी परमात्माकी विभूतियाँ।

[ख]

मेरी पत्नीके पेटमें रसौली हो गयी। परदेश था, न कोई आगे न पीछे। गोदमें ढाई सालका बालक। ग्रीष्मावकाशमें पत्नीको मिशन अस्पताल फिरोजपुरमें दाखिल करा दिया। डाक्टरोंने इंजेक्शन लानेको लिखकर दिया। न रहनेका कोई स्थान था और न कहीं कोई परिचय ही। बच्चेको कंधेपर उठाया। कड़ी धूपमें दो मील चलकर छावनी पहुँचा। एक सज्जन अपने द्वारपर खड़े थे। नम्रतासे डाक्टरकी दूकान पूछी। सज्जनने मुझे बुलाया और बैठनेको कहा—मैं झिझक रहा था। साथ ही समयपर इंजेक्शन भी पहुँचाना था। परंतु सज्जनने आग्रहपूर्वक बैठाकर मीठा शर्बत पिलाया और साथमें डाक्टर तक गये भी। २१) रुपये-में इंजेक्शन मिला। लेकर दूसरे डाक्टरके पास गये, १४) रुपयेमें पुनः खरीदा। तीसरे, चौथे और पाँचवें डाक्टरतक गये और अन्तमें डेढ़ रुपयेमें टीका खरीदकर मुझे तो वापस कर दिया, परंतु मुझसे २१) १४) १२) ७) रुपयोंवाले इंजेक्शनोंको लेकर वापस कर दिया। सायंकाल धर्मशालामें आये और मुझे सारे रुपये लौटाकर सेवा पूछी। मैंने रहनेके लिये स्थान चाहा। दूसरे दिन धर्मशालाके मालिकसे स्वीकृति ला दी। मुझे वहाँ तीन मास रहना पड़ा, परंतु बिना बदलेके इन उपकारी सज्जनके द्वारा मुझे अनेक प्रकारकी सुविधाएँ प्राप्त हुईं। वे सज्जन थे श्री बी० एन० कौशल, स्टेट बैंकके अकाउंटेंट। बादमें पता चला कि इन सज्जनने अपने नौकरीके बादवाले समयको केवल परोपकारके लिये सुरक्षित रख छोड़ा है और सदा इसी खोजमें रहते हैं कि कोई ऐसे व्यक्ति हों, जिनका अटका हुआ काम इनसे हो सके। धन्य हैं ऐसे दयामय परमात्माके बन्दे परहितव्रती सज्जन! इन्हींका जीवन सफल है।

—शंकरप्रसाद त्रिपाठी 'शास्त्री'

(४)

सहृदयताका एक ज्वलन्त दृष्टान्त

लगभग तीन वर्ष पूर्वकी घटना है।

मेरा स्थानान्तर अजमेर जिलेके एक कस्बेसे राजस्थानके एक अन्यत्र बड़े कस्बेमें हो गया था। इस बीचमें मुझे अपने मुख्य निवासस्थान उदयपुर जाना आवश्यक था। अतः मैं अपना सारा सामान लादकर अजमेर स्टेशनसे सीधे ही उदयपुरके डिब्बेमें बैठ गया। रात्रिके ग्यारह बजे ट्रेन रवाना हुई। दूसरे दिन १० बजे उदयपुर पहुँचना था।

मेरे पासवाली सीटपर एक अन्य सज्जन बैठे थे, जिन्हें चित्तौड़ स्टेशनपर उतरना था। वे भी अपने परिवारसहित अजमेरसे चित्तौड़ जा रहे थे। उनके साथ भी काफी सामान था।

रात्रिके बारह बजेके लगभग पुस्तक पढ़ते-पढ़ते मुझे झपकी आ गयी। ट्रेनके हिचकोलों एवं डिब्बेके पंखेकी ठंडी हवाने मुझे निद्रालोकमें पहुँचा दिया। सुबह उठा तो साढ़े सात बज रहे थे।

मावली जंक्शन आ गया था। नित्यकर्मसे निवृत्त हो मैंने अपने सामानकी सँभाल की तो यह देखकर दंग रह गया कि मेरा एक सूटकेस गायब था। उसमें मेरे दो सौ रुपये नकद, मूल्यवान् कपड़े, कुछ साहित्यिक लेख एवं पुस्तकें थीं। मुझे नकद रुपये चले जानेका उतना दुःख नहीं था, जितना कि साहित्यिक लेखोंके चले जानेका। सारे परिश्रमपर पानी फिर गया था। सारे डिब्बेमें सूटकेसकी तलाश की, सह-यात्रियोंसे भी पूछा, पर कुछ पता नहीं चला।

हारकर मैंने रेल्वे-पुलिसको भी सूचना दी, पर सब व्यर्थ रहा । दस बजे ट्रेन उदयपुर पहुँची । खिन्न मनसे सामान ताँगेपर लादकर घर पहुँचा ।

दूसरे दिन ईश्वरकी कृपासे एक चमत्कारिक घटना हुई । एक अपरिचित व्यक्ति सूटकेस हाथमें लिये मेरे मकानपर आये । सूटकेस मेरा ही था । उन्होंने मुझे एक पत्र दिया । उसमें लिखा था—

'प्रिय महोदय ! क्षमा करना । चित्तौड़ स्टेशनपर जल्दीमें मेरे परिवारके व्यक्तियोंने आपके सूटकेसको मेरा समझकर डिब्बेसे उतार लिया । घर पहुँचनेपर मुझे पता चला कि यह सूटकेस तो मेरा नहीं है । पर उस समयतक ट्रेन जा चुकी थी इसलिये वापस स्टेशन आना भी व्यर्थ था । सूटकेसपर आपका पता लिखा था । अतएव मैं यह सूटकेस अपने विश्वसनीय आदमीके हाथ आपके पास भेज रहा हूँ, इसे ले लें । पहुँचकी रसीद इसे अवश्य दे दें । इस अपराधके लिये हमें क्षमा भी करें ।' नीचे सहयात्रीके हस्ताक्षर थे । मैंने सूटकेस खोलकर रुपये गिने, पूरे थे । लेख, पुस्तकें एवं कपड़े सब यथावत् पड़े थे । सहयात्रीकी इस आदर्श सहृदयताकी मैं जितनी प्रशंसा करूँ, कम है ।

आजके इस कलुषित और अनैतिक युगमें सहृदयता, ईमानदारी और तत्परताके ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं ।

—प्रा० श्यामनमनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(५)

गरीब कन्याके विवाहका पुण्य

एक अमेरिकन समाचार-पत्रके महिलाविभागकी सम्पादिका अपने कार्यालयमें बैठी सम्पादनकार्य कर रही थी । इसी बीच एक गरीब प्रौढ़ विधवा स्त्री आयी और उसने कहा—'मेरी एकमात्र कन्याका विवाह है, मुझे उसका विज्ञापन देना है; पर मैं छपाईके पैसे दे सकूँ, ऐसी स्थिति नहीं है; क्या आप लेख-विभागमें विवाहके विवरणको समाचारके तौरपर छाप देंगी ?'

दयालु सम्पादिका उस अपनी एकमात्र पुत्रीका विवाह करनेवाली विधवा माताकी भावनाको समझ गयी और उसने कहा—'अच्छी बात है, लिखाइये—आपको क्या छपवाना है ?'

विधवा माता पुत्रीके होनेवाले विवाहके ठाट-बाट, साज-शृंगार और भेंट-सौगातमें मिलनेवाली मूल्यवान् वस्तुओंका वर्णन करने लगी । उसे सुनकर सम्पादिकाने कलम नीचे रखकर पूछा—'आप तो गरीब हैं, फिर यह सब क्या लिखा रही हैं ?'

विधवा माताको चोट लगी और वह गलगली होकर बोली—'मेरी लड़की तो यह सब देख भी नहीं पायेगी । पर वह बेचारी जब अपने विषयमें अपने प्रिय समाचारपत्रमें यह सब पढ़ेगी तो उसको कितनी ज्यादा खुशी होगी । वह इस अंकको घरमें सँजोकर रक्खेगी और उसके बेटे-बेटी और फिर उनके बेटे-बेटी कभी भविष्यमें इसे पढ़ेंगे तो उनको कितना गौरव प्राप्त होगा ।'

भावके आवेशमें माताकी आँखोंमें आँसू भर आये ।

सम्पादिकाकी आँखें भी गीली हो गयीं । उसने कलम उठाकर अपने मनसे ही लिखना शुरू किया । बहुत सुन्दर वर्णन लिखा । उसमें विवाहके ठाट-बाट और कन्याको मिली हुई भेंट-सौगातका आकर्षक विवरण था । फिर उसने टेलीफोन उठाया और अपने स्नेही बन्धुओं, सज्जनों और अच्छे स्वभावकी महिलाओंसे अनुरोध किया कि—'आपके पास विवाहकी जो सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ पड़ी हैं, उनको लेकर इस लड़कीके विवाहमें भेंट देने पधारिये ।' फिर उसने उस गरीब मातासे कहा—'यह वर्णन हमारे समाचारपत्रमें सबका ध्यान खींचनेवाले ढंगसे छापा जायगा और इसमें जैसा वर्णन है ठीक उसीके अनुसार आपकी कन्याका विवाह भी होगा ।'

आभारके वश होकर माता भावकी अतिशयतासे रो पड़ी !

और सचमुच, सम्पादिकाकी मानवताने इस गरीब विधवा माताकी एकमात्र पुत्रीका विवाह ऐसे ठाट-बाटसे करवा दिया और उसकी ऐसी सुन्दर खबरें दूसरे समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हुईं कि उस कन्या और उसकी भावी संतानके लिये भी यह घटना गौरवरूप बन गयी । 'अखंड आनन्द'

—यशवत कडीकर

(६)

दैवी दृष्टि

मेरे पिताजी श्रीएस० डी० बहुगुना एम्० ए०,

एल्-एल्० बी०, जो मणिपुरमें शिक्षा-विभागके डाइरेक्टर पदसे रिटायर्ड हुए। पंद्रह साल पहले जब वे उड़ीसा-में डिप्टी डाइरेक्टर थे, उन्होंने उस समयका अपना एक अनुभव सुनाया, जो इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य जसा करता है, वैसा ही पाता है। जब उनके विशेष वेतनवृद्धि- (Crossing of efficiency bar) का समय आया तब सरकारसे स्वीकृति आनेमें कई महीनोंका विलम्ब हो गया, जिसका कोई कारण नहीं था। उन्हें इसकी कोई चिन्ता न थी; क्योंकि वे सोचते थे अपने-आप आदेश आ ही जायगा। उनको मालूम हुआ कि फाइल मिनिस्टर साहबके कागजोंके ढेरमें कहीं पड़ा है। वे इनको अक्सर सरकारी कामसे मिलते भी रहते थे, परंतु इन्होंने कभी उनसे अपने बारेमें नहीं कहा। इसी बीच एक दिन सरकारी डाकके साथ, जो इनके ही पास आती थी, इन्होंने एक लंबी रिपोर्ट देखी जो गवर्नरके नाम किसीकी भेजी हुई थी और गवर्नरके दफ्तरसे वह डाइरेक्टर साहबके पास रिपोर्टके लिये भेजी गयी थी। इन्होंने कुछ पंक्तियाँ पढ़ीं, जिससे मालूम हुआ कि उसमें सारी शिकायतें ही लिखी हैं और सबसे पहले उन्हें अपना ही नाम मिला। रिपोर्ट कई पन्नोंकी होनेके कारण उनको खयाल हुआ कि वह कई अफसरोंके बारेमें होगी, पर जैसे-जैसे ये आगे पढ़ते गये इनको और किसीका भी नाम नहीं मिला और इस रिपोर्टमें शायद ही रिपोर्ट लिखनेवालेने कोई दोष इनपर लगानेमें छोड़ा हो।

ये अभीतक अपनेको अच्छा आदमी समझते थे। पर यह सब पढ़कर इनको आश्चर्य तो हुआ ही, साथ ही अपनेपर हँसी भी खूब आयी। इन्होंने इस रिपोर्टको और चिट्ठियोंके साथ दफ्तरमें उसपर यह लिखकर भेज दिया कि यह एक दिलचस्प लेख है। ये घर गये। कुछ समय बाद इनको खयाल हुआ कि इनका विशेष वेतनवृद्धिका फाइल तो मिनिस्टर साहबके कागजोंमें पड़ा ही हुआ है और यह रिपोर्ट आयी है, ऊपरवाले लोग सोच सकते हैं कि अगर पाँच प्रति सैकड़ा भी यह रिपोर्ट सत्य हो तो कम-से-कम वेतनवृद्धिके फाइलका अभी और देरतक पड़ा रहना ठीक ही होगा। इससे दफ्तरमें भी कुछ अफवाह चलेगी।

ये सोचने लगे कि ऐसा क्यों हुआ, इनसे किसी कार्यमें बड़ी भूल तो हुई नहीं थी कि जिसका यह ईश्वरीय दण्ड हो। इन्हें खयाल आया कि इनके दफ्तरमें एक फाइल है, जिसमें करीब डेढ़ सौ अध्यापकोंकी तरक्कीका दो सालसे एक-न-एक कारणसे मामला रुका हुआ है। इन्होंने सोचा कि इन्हें अब उस फाइलके पीछे पड़ जाना है और जबतक उस फाइलको पूरा नहीं कर लेंगे, अपने मामलेके बारेमें नहीं सोचेंगे।

वह रिपोर्ट तो फिर उनके पास आयी ही नहीं, साधारण तरीकेसे तो उनसे कुछ पूछा जाना चाहिये था; परंतु डाइरेक्टर साहबने बिना उनसे कुछ पूछे ही अपनी रिपोर्ट सरकारको भेज दी होगी; क्योंकि वे इनके कामसे बड़े संतुष्ट थे। शायद डाइरेक्टर साहबको उस नामका कोई व्यक्ति ही नहीं मिला, जिस नामसे रिपोर्ट भेजी गयी थी और उन्होंने अनुमान कर लिया होगा कि यह काम किसी असंतुष्ट अफसरका ही होगा।

करीब एक महीनेमें इन्होंने अध्यापकोंकी तरक्कीवाला वह फाइल पूरा करके डाइरेक्टर साहबके पास भेज दिया और उस दिन बड़े खुश होकर घर गये। सुबहकी डाकमें, क्या देखते हैं कि इनके विशेष वेतनवृद्धिका आदेश मौजूद है। तर्कसे तो कोई कह सकता है कि यह एक चान्सकी बात हुई, लेकिन है बात चिन्तनीय और महत्त्वपूर्ण।

इनका विश्वास है कि कोई अदृश्य शक्ति हमारे भलाई एवं बुराईके कार्योंको बराबर निरीक्षण कर रही है और हमें उसका न्यायोचित बुरा एवं भला फल दे रही है।

ये कहते हैं कि हरेक व्यक्तिको वह चाहे किसी पदपर हो, ऊँचे या नीचे—अपने दैनिक कार्यमें ऐसे अवसर नहीं चूकने चाहिये जिनसे उसकी आत्माको संतोष मिले। यह संतोष लाख दो लाख दान देकर ही नहीं होता। इनका खयाल है कि भलाईका छोटा-से-छोटा कार्य भी बड़े महत्त्व-का होता है।

एक दफ्तरका बाबू भी अपने कामको यदि मन लगाकर और ईमानदारीसे करता है तो उसका पद ईश्वरीय दृष्टिमें उतना ही ऊँचा होगा, जितना बड़े-से-बड़े अफसरका। इनका एक अरदली कई सालतक रहा जो इनके दफ्तरके कमरेके सामने बैठा रहता था। वह अपने कर्तव्यका बड़ा पक्का था। ये कभी-कभी दफ्तरमें बैठे सोचा करते कि ईश्वरके सामने शायद इस अरदलीका पद इनसे ऊँचा ही होगा।

—सत्यप्रकाश बहुगुना

(७)

राम-रक्षास्तोत्रका चमत्कारी प्रभाव

कल्याणके ३९ वें वर्षके विशेषाङ्कमें प्रकाशित 'राम-

रक्षा-स्तोत्र' को मैंने गत आश्विनके नवरात्रमें, उल्लिखित विधिके अनुसार सिद्ध किया । तदनन्तर इसका प्रयोग मैं कई अवसरोंपर कई व्यक्तियोंपर कर चुका हूँ । इसके चमत्कारी प्रभावसे मैंने अपने परिवारके सदस्यों-को तो विविध रोगोंके प्रकोपसे बचाया ही है, साथ ही अपने शिक्षक-बन्धुओं तथा शिष्योंको भी विविध प्रकारके रोगोंके उपचारमें इस स्तोत्रके प्रभावसे पर्याप्त सहायता प्रदान की है । मैं दन्तपीड़ा, उदर-पीड़ा, बिच्छूका काटना, ज्वरका वेग आदिपर इसका प्रयोग कर चुका हूँ तथा प्रत्येक अवसर-पर इसके प्रयोगसे पूर्ण सफलता मिली है । इसके तत्काल चमत्कारी प्रभावको देखकर सम्बन्धित व्यक्ति, जिनपर मैंने इसका प्रयोग किया है, बड़े चकित तथा प्रफुल्लित हुए हैं । मेरा 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंसे अनुरोध है कि वे भी इस स्तोत्रसे अधिक-से-अधिक संख्यामें स्वयं लाभ उठावें तथा दूसरे दीन-दुखी व्यक्तियोंको भी उनके कष्ट मिटानेमें समुचित सहायता प्रदान करें ।

—हरीसिंह वर्मा बी० ए०, साहित्यरत्न एस० जी० एस०
जू० हा० स्कूल मोहकमपुर (पटना)

(८)

मधुमेहकी अचूक दवा

जिन भाइयों या माता-बहनोंको मधुमेह (डायबेटीज) का रोग हो, वे सहदेई (सहदेवी) नामक पौधेको खोदकर ले आवें । फिर उसकी जड़को अलग निकालकर एक तोला एक पाव जल (ताजा या बासी) के साथ ऐसा पीस ले कि जिसमें वह जलके साथ एकदम घुल-मिलकर एक हो जाय । उसे सुबह-शाम दोनों समय पी लिया जाय । तीस दिनोंमें रोग नष्ट हो जाता है । यह अचूक औषध है । इससे पेटकी खराबियाँ, रक्तदोष, ज्वर आदि रोगोंसे छुटकारा पानेमें भी लाभ होता है ।

—परसराम

(९)

दो अनुभूत योग

(क)

मुँहमें अजीर्णके कारण या अन्य किसी कारण जो छाले हो जाते हैं, जिन्हें मुखव्रण भी कहते हैं । भोजन करते समय कष्ट प्रतीत होता है । उसके लिये चमेलीके अच्छे साफ पत्ते लेकर धीरे-धीरे मुँहमें लेकर चबायें जिससे पत्तोंका रस भली-भाँति छालोंसे लग जाय । इसी तरह ३-४ दिन करें । दिनमें केवल एक बार पत्ते चबाना पर्याप्त है । इसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं है । अवश्य लाभ होगा, यह मेरा स्वानुभूत योग है ।

(ख)

हाथकी अँगुली या अँगूठेमें जो एक कठिन शोथ हो जाता है, जिसे नौघेरा या विस्कुटी भी कहते हैं । उसके लिये साँपकी काँचली लेकर उसे शुद्ध शहदसे एक तरफ लपेट लें, फिर उसे पीड़ित अँगुलीपर अच्छी तरह चिपका दें, तत्कालकी उठी विस्कुटी उसी दिन शान्त हो जायगी । यदि दो-चार दिन पुरानी हो तो एक-दो दिन यही प्रयोग करें । प्रत्येक दिन नयी-नयी काँचली उसी तरह शहदमें लपेटकर लगावें । श्रीहरिकी कृपासे अवश्य लाभ होगा, अनुभूत योग है । ॐ ।

—वैद्य भगवतीप्रसाद शर्मा

(१०)

पशुओंके खुरहा रोगकी सफल चिकित्सा

गत मार्च माहमें मेरी भैंसको 'खुरहा' नामकी बीमारी हो गयी । इस बीमारीके कारण भैंस चल नहीं पाती थी । उसके खुरमें कीड़े पड़ गये थे । मैंने कई दवाइयाँ कीं, पर आराम नहीं हुआ । अन्तमें अर्जुनके उन दस नामोंका स्मरण हो आया, जिनमें पशुरोग-नाशकी क्षमता है । मैं गुग्गुल तथा दशाङ्ग धूपकी धूनी देनेके साथ-साथ दस नामोंको पढ़ता जाता था । दस नामोंको एक छोटे-से कागजमें लिखकर नये कपड़े-में एक नारियलके साथ उस कागजको लपेटकर भैंसके कोठेमें बाँध दिया । बस, इसके दूसरे ही दिन मेरी भैंस ठीक हो गयी । नामके इस अद्भुत चमत्कारको देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हो गया । अर्जुनके वे दस नाम ये हैं*—

१. अर्जुन, २. फाल्गुन, ३. जिष्णु, ४. किरीटी, ५. श्वेतवाहन, ६. बीभत्सु, ७. विजय, ८. कृष्ण, ९. सव्यसाची और १०. धनञ्जय ।

—पं० पदुमलाल त्रिपाठी

* अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः । बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः ॥
(महा० विराट० ४४ । ९)

श्रीहरिः

गीताप्रेसकी पुस्तकोंकी नवीन मूल्य-तालिका

गीताप्रेसकी स्थापना सस्ते मूल्यपर सर्वकल्याणकारी सत्साहित्यके प्रकाशनार्थ हुई थी और आरम्भसे ही इसी उद्देश्यको सामने रखकर प्रकाशन-कार्य किया जा रहा है। यह बड़े संतोषकी बात है कि गीताप्रेसके प्रति, उसके द्वारा प्रकाशित साहित्यके प्रति, देशके सभी क्षेत्रोंमें अत्यन्त स्नेह तथा आत्मीयतापूर्ण सद्भावना है। वस्तुतः गीताप्रेस सभी सद्भावनायुक्त देशवासियोंकी अपनी चीज है। गीताप्रेसका साहित्य उच्चश्रेणीका होनेके साथ ही सस्ता होनेके कारण भी सर्वप्रिय है। एक बार लगभग २३ वर्ष पूर्व जब कागजोंके दाम बढ़े थे, गीताप्रेसकी पुस्तकोंका मूल्य ५० प्रतिशत बढ़ाया गया था, परंतु परिस्थिति सुधरनेपर पुनः मूल्य घटा दिया गया था। इधर कई वर्षोंसे लगातार प्रायः सभी चीजोंकी कीमत उत्तरोत्तर बढ़ रही है और सभी प्रकारके खर्चे बेहद बढ़ते जा रहे हैं। खर्च घटनेकी अभी कोई सम्भावना नहीं दिखायी देती। इसीलिये इच्छा न होनेपर भी प्रेसकी पुस्तकोंके मूल्यमें कुछ वृद्धि की गयी है। इस मूल्य-वृद्धिमें भी कई पुस्तकोंका मूल्य नहीं बढ़ाया गया है, कईका बहुत ही कम बढ़ाया गया है। शेष पुस्तकोंका जो मूल्य बढ़ाया गया है, वह भी वास्तवमें आजके पुस्तक-जगत्‌में लागत मूल्यको देखते बहुत ही कम है। इतनी सस्ती पुस्तकें शायद ही अन्य कहींसे उपलब्ध होती हों। यह भी तब किया गया है जब कि गतवर्ष प्रयत्न करनेपर भी प्रेसको लगभग ढाई लाख रुपये घाटा सहन करना पड़ा है। यों घाटा देते रहनेसे प्रेसके कार्य-संचालनमें बड़ी बाधा आनेकी प्रत्यक्ष सम्भावना देखकर ही बाध्य होकर कुछ थोड़ी-सी मूल्य-वृद्धि करनी पड़ी है। गीताप्रेसके साहित्यप्रेमी सभी महानुभावोंसे निवेदन है कि वे इसके लिये क्षमा करें और इसका सहर्ष स्वागत करें। साथ ही इस साहित्यके विशेष अध्ययन तथा प्रचार-प्रसारके लिये प्रयत्नशील होकर गीताप्रेसके पवित्र कार्यसम्पादनमें विशेष बल तथा उत्साह प्रदान करें। पुस्तकोंकी वर्तमान मूल्य-तालिका नीचे दी जा रही है। यह मूल्यवृद्धि दिनांक ४ फरवरी १९६६से की गयी है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस

दिनाङ्क ४ फरवरी १९६६ से गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंके दामोंकी नयी सूची

	रु. न. पै.
गीता-तत्त्वविवेचनी	४.००
गीता श्रीधरी	२.५०
,, सजिल्द	३.००
गीता बड़ी	१.२५
गीता मझोली सजिल्द	१.००
गीता गुटका सजिल्द	०.७५
गीता माहात्म्यसहित मोटे अक्षरोंमें अजिल्द	१.६०
,, सजिल्द	१.५०
गीता मोटे अक्षरवाली	०.६०
,, सजि०	१.००
गीता मूल मोटा टाइप	०.३१
,, सजि०	०.५६

	रु. न. पै.
गीता केवल भाषा	०.३०
गीता पञ्चरत्न	०.२५
गीता छोटी भाषाटीका	०.२०
,, सजि०	०.३५
गीता ताबीजी मूल	०.२०
गीता मूल विष्णुसहस्र-नामसहित अजिल्द	०.१२
गीताव्याकरणम्	१.२५
गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश और परिचय	१.२५
गीतादैनन्दिनी १९६६	०.७५
,, ,, सजि०	०.९०

	रु. न. पै.
श्रीशुक-सुधासागर मोटा टाइप (केवल भाषा)	२५.००
भागवत महापुराण सटीक (दो खण्डोंमें)	२०.००
भागवत-सुधासागर (केवल भाषा)	१०.००
श्रीप्रेम-सुधासागर (दशम स्कन्ध)	४.५०
भागवत मूल मोटा टाइप	७.५०
भागवत केवल मूल गुटका	४.००
श्रीभागवतामृत	२.००
भागवत एकादश स्कन्ध	१.२५
,, सजि०	१.६५

महाभारत भाषाटीका
पहला खण्ड
(आदि, सभापर्व) १३.२५
महाभारत दूसरा खण्ड
(वन और विराटपर्व) १५.००
महाभारत तीसरा खण्ड
(उद्योग और भीष्मपर्व) १५.००
महाभारत चौथा खण्ड
(द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व) १८.००
महाभारत पाँचवाँ खण्ड
(शान्तिपर्व) १३.७५
महाभारत छठा खण्ड
(अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व) १५.००
महाभारत मूल भाग १
(आदि, सभा, वनपर्व) ७.००
महाभारत मूल, भाग २
(विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोणपर्व) ७.००
महाभारत मूल, भाग ३
(कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्तिपर्व) ७.००
महाभारत मूल, भाग ४
(अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व) ५.५०
महाभारतकी नामानुक्र. २.५०
महाभारतका परिचय १.७५
श्रीजैमिनीयाश्वमेधपर्व सटीक ६.००
हरिवंश पुराण १४.००
सनत्सुजातीय शांकरभाष्य हिंदी अनुवादसहित २.५०
विष्णु-पुराण ५.००
मार्क्सवाद और रामराज्य ५.००
श्रीराधा-माधव-चिन्तन ५.००

गीता-भवन चित्र-दर्शन ३.००
वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) २.५०
ईशादि नौ उपनिषद् २.५०
छान्दोग्योपनिषद् ५.००
बृहदारण्यकोपनिषद् ६.५०
ईशावास्योपनिषद् .२५
केनोपनिषद् .६०
कठोपनिषद् .७०
प्रश्नोपनिषद् .५५
मुण्डकोपनिषद् .५५
माण्डूक्योपनिषद् १.२५
तैत्तिरीयोपनिषद् १.००
ऐतरेयोपनिषद् .४५
श्वेताश्वतरोपनिषद् १.०५
ईशावास्योपनिषद् .१०
आध्यात्मरामायण ४.००
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सटीक (दो खण्डोंमें) २०.००
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल भाषा) १३.५०
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल मूल) ९.००
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड मूल १.००
श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप सटीक बृहदाकार १८.००
श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप सटीक ८.५०
श्रीरामचरितमानस मझला सटीक ४.००
श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप केवल मूल पाठ ५.००
श्रीरामचरितमानस मूल पाठभेद ३.७५
रामायण मूल मझला २.००
श्रीरामचरितमानस (मूल-गुटका) ०.९०
रामायण बालकाण्ड मूल ०.६२

रामायण बालकाण्ड सटीक १.२५
" अयोध्याकाण्ड सटीक ०.९०
" अरण्यकाण्ड मूल ०.२०
" " सटीक ०.३०
" किष्किन्धाकाण्ड सटीक ०.१५
" सुन्दरकाण्ड सटीक ०.३०
" लङ्काकाण्ड मूल ०.२५
" " सटीक ०.६०
" उत्तरकाण्ड सटीक ०.६०
मानस-रहस्य १.५०
" सजि० १.९०
मानस-शंका-समाधान ०.६०
विनय-पत्रिका सटीक १.२५
" सजि० १.६५
गीतावली सटीक १.२५
" सजि० १.६५
कवितावली ०.६५
दोहावली ०.६०
रामाज्ञा-प्रश्न ०.४५
श्रीकृष्ण-गीतावली ०.३५
जानकी-मंगल ०.२५
पार्वती-मंगल ०.१५
वैराग्य-संदीपनी ०.१५
बरवै रामायण ०.१५
हनुमान-बाहुक ०.१३
सूर-विनय-पत्रिका १.१०
" सजि० १.५०
सूर-रामचरितावली ०.८५
" सजि० १.२५
श्रीकृष्णबालमाधुरी १.१०
" सजि० १.५०
श्रीकृष्ण-माधुरी १.२५
" सजि० १.६५
अनुराग-पदावली १.२५
" सजि० १.६५
श्रीरामकथामन्दाकिनी २.००
प्रेम-योग अजिल्द १.९०
भ्रमर-गीत १.९०

ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१.५०
,, सजि०	१.९०
मानसिक दक्षता	१.२५
,, सजि०	१.७५
श्रीगोविन्दवैभवम्	१.२५
,, सजि०	१.६५
शरणागति-रहस्य	१.१०
उत्तराखण्डकी यात्रा	२.५०
विष्णुसहस्रनाम शांकर-भाष्य	१.१०
श्रीदुर्गासप्तशती मूल मोटा टाइप	१.२५
,, सजि०	१.६५
श्रीदुर्गासप्तशती, मूल	०.६५
,, सजि०	१.००
श्रीदुर्गासप्तशती (सटीक)	१.००
,, सजि०	१.२५
योगप्रदीप	१.५०
पातञ्जलयोगदर्शन (सटीक)	.९०
,, सजि०	१.२५
प्रेमदर्शनम्	.९०
लघुसिद्धान्तकौमुदी	.९०
भक्तियोगका तत्त्व	१.२५
आत्मोद्धारके साधन	१.२५
कर्मयोगका तत्त्व	१.२५
महत्त्वपूर्ण शिक्षा	१.००
,, सजि०	१.५०
परम साधन	१.००
,, सजि०	१.५०
मनुष्य-जीवनकी सफलता	१.००
,, सजि०	१.५०
परमशान्तिका मार्ग	१.००
,, सजि०	१.५०
ज्ञानयोगका तत्त्व	१.००
,, सजि०	१.५०
प्रेमयोगका तत्त्व	१.००
,, सजि०	१.५०
मनुष्यका परम कर्तव्य	१.००
तत्त्व-चिन्तामणि १	.७५
,, सजि०	१.१५
तत्त्व-चिन्तामणि भाग २	१.००
,, सजि०	१.४०
,, भाग ३	.८०
,, सजि०	१.२०
,, भाग ४	.९५
,, सजि०	१.३५
,, भाग ५	.९५
,, सजि०	१.३५
,, भाग ६	१.००
,, सजि०	१.४०
,, भाग ७	१.२५
,, सजि०	१.६५
तत्त्व-चिन्तामणि गुटका साइज—	
,, भाग १ ,, सजि०	.६०
,, भाग २ ,, सजि०	.७०
,, भाग ३ ,, सजि०	.६०
,, भाग ४ ,, सजि०	.७५
,, भाग ५ ,, सजि०	.७०
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली—	
,, खण्ड १	१.१५
,, सजि०	१.५५
,, खण्ड २	१.४०
,, सजि०	१.८०
,, खण्ड ३	१.२५
,, सजि०	१.६५
,, खण्ड ४	.८५
,, सजि०	१.२५
,, खण्ड ५	१.००
,, सजि०	१.४०
आशाकी नयी किरणें	१.५०
अमृतके घूँट	१.२५
आनन्दमय जीवन	१.००
स्वर्ण-पथ	.९०
एक लोटा पानी	.९०
सत्सङ्गके बिखरे मोती	.९०
एक महात्माका प्रसाद	.९०
संत-वाणी	.७५
,, सजि०	१.२०
सूक्तिसुधाकर	.७५
,, सजि०	१.२०
विदुरनीति	.७०
स्तोत्ररत्नावली	.६५
,, सजि०	१.००
सुखी जीवन	.६५
सत्सङ्गसुधा	.६५
सती द्रौपदी	.६५
प्रेम-सत्सङ्ग-सुधा-माला	.६५
भगवच्चर्चा भाग १	.६०
,, सजि०	१.००
,, भाग २	.६०
,, सजि०	१.००
,, भाग ३	.९०
,, सजि०	१.३०
,, भाग ४	.९५
,, सजि०	१.३५
,, भाग ५	.९०
,, सजि०	१.३५
,, भाग ६ (पूर्ण समर्पण)	.९०
,, सजि०	१.३०
लोक-परलोकका सुधार	
,, भाग १	.४५
,, भाग २	.४५
,, भाग ३	.६०
,, भाग ४	.६०
,, भाग ५	.६०
श्रीभीष्मपितामह	.५५
नित्यकर्म-प्रयोग	.५५
जीवनका कर्तव्य	.५५
पढ़ो, समझो और करो	.४५
बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	.४५
पिताकी सीख	.४५
उपनिषदोंके चौदह रत्न	.४५
रामायणके आदर्श पात्र	.४५
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा	.४५
नारी-शिक्षा	.४५
तत्त्व-विचार	.४५

पुस्तक	मूल्य
विवेक-चूडामणि	.४०
भवरोगकी रामबाण दवा	.३५
प्रेम-दर्शन (भक्तिसूत्र)	.३५
उपयोगी कहानियाँ	.४०
चोखी कहानियाँ	.४०
भक्त-भारती	.५५
भक्त नरसिंह मेहता	.४५
भक्त बालक	.४०
भक्त नारी	.४०
भक्त-पञ्चरत्न	.४०
आदर्श भक्त	.४०
भक्त-सप्तरत्न	.४०
भक्त-चन्द्रिका	.४०
भक्त-कुसुम	.४०
प्रेमी भक्त	.४०
प्राचीन भक्त	.६०
भक्त-सरोज	.४५
भक्त-सुमन	.४५
भक्त-सौरभ	.४०
भक्त-सुधाकर	.६०
भक्त-महिलारत्न	.५५
भक्त-दिवाकर	.५५
भक्त-रत्नाकर	.५५
भक्तराज हनुमान्	.३५
सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	.३५
प्रेम भक्त उद्धव	.२५
महात्मा विदुर	.२०
भक्तराज ध्रुव	.२५
परमार्थ-पत्रावली भाग १	.३०
,, भाग २	.३०
,, भाग ३	.६०
,, भाग ४	.६०
अध्यात्मविषयक पत्र	.६०
शिक्षाप्रद पत्र	.६०
कल्याण-कुञ्ज भाग १	.३०
,, भाग २	.३५
,, भाग ३	.४५
बाल-चित्रमय कृष्ण-लीला भाग १	.४५
,, ,, भाग २	.४५

पुस्तक	मूल्य
भगवान कृष्ण भाग १	.४०
,, ,, भाग २	.४०
बाल-चित्रमय बुद्धलीला	.४०
बाल-चित्रमय चैतन्य-लीला	.४०
श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सव	.३०
भगवान राम भाग १	.३०
,, ,, भाग २	.३०
बाल-चित्र-रामायण १	.३०
,, ,, २	.३०
भगवान्‌पर विश्वास	.३०
गीता-द्वार	.३०
लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली	.३०
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	.३०
सती सुकला	.३०
आरती-संग्रह	.३०
महाभारतके आदर्श पात्र	.३०
सत्सङ्ग-माला	.३०
बालकोंकी बातें	.३०
सच्चे ईमानदार बालक	.३०
वीर बालक	.३०
गुरु और माता-पिताके भक्त बालक	.३०
आदर्श चरितावली (भाग १)	.३०
,, ,, (भाग २)	.३०
,, ,, (भाग ३)	.३०
,, ,, (भाग ४)	.३०
संस्कृति-माला (भाग १)	.२५
,, (,, २)	.३०
,, (,, ३)	.३५
,, (,, ४)	.४५
,, (,, ५)	.४५
,, (,, ६)	.४५
,, (,, ७)	.६५
,, (,, ८)	.६५
हिंदी बाल-पोथी शिशु-पाठ	
,, (भाग १)	.३०
,, (भाग २)	.३०
,, (भाग ३)	.४०
,, (भाग ४)	.४५

पुस्तक	मूल्य
ध्यान और मानसिक पूजा	.२५
प्रार्थना	.२५
मानव-धर्म	.२५
आदर्श नारी सुशीला	.२५
आदर्श भ्रातृ-प्रेम	.२५
दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	.२५
वीर बालिकाएँ	.२५
दैनिक कल्याण-सूत्र	.२५
श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन	.२५
श्रीराधा-माधव-रस-सुधा सटीक	.२०
,, ,, गुटका मूल	.१०
गीता-निबन्धावली	.२०
साधन-पथ	.२०
अपरोक्षानुभूति	.२०
मनन-माला	.२०
गङ्गासहस्रनाम सटीक	.२०
श्रीलक्ष्मीनृसिंहसहस्रनामस्तोत्रम्	.२०
श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम् स०	.१८
भारतमें आर्य बाहरसे नहीं आये	.१८
बालकके गुण	.२८
आओ बच्चो तुम्हें बतायें	.२०
बालकोंकी बोलचाल	.२०
बालककी दिनचर्या	.१५
बालकोंको सीख	.१५
बालकके आचरण	.१५
नवधा भक्ति	.१५
बाल-शिक्षा	.१५
भरतजीमें नवधा भक्ति	.१५
गीताभवन-दोहा-संग्रह	.१५
गणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	.१५
श्रीराधिकासं० ना० स्तोत्र	.१५
भजन-संग्रह प्रथम भाग	.१५
,, द्वितीय भाग	.१५
,, तृतीय भाग	.१५
,, चतुर्थ भाग	.१५
,, पञ्चम भाग	.१५
बाल-प्रश्नोत्तरी	.१२

पुस्तक	मूल्य
स्वास्थ्य, सम्मान, सुख	.१२
स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी	.१२
नारी-धर्म	.१२
गोपी-प्रेम	.१२
मनुस्मृति दूसरा अध्याय	.१२
तर्पण-विधि	.१२
गजेन्द्रमोक्ष	.१२
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	.१२
विष्णुसहस्रनाम सटीक	.१२
श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
सीतासहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
गायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
शिवसहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	.१२
शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र	.१२
भीष्मस्तवराज सटीक	.१२
वर्तमान शिक्षा	.१२
गीता पढ़नेके लाभ	.१२
रासलीलाका रहस्य	.१२
मनको वश करनेके उपाय	.१०
श्रीसीताके चरित्रसे आ. शि.	.१०
ईश्वर	.१०
मूलरामायण	.१०
रामायण-मध्यमा-परीक्षा पाठ्यपुस्तक	.१०
दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य	.०८
विनय-पत्रिकाके बीस पद (सार्थ)	.०८
हनुमानचालीसा	.०८
शिवचालीसा	.०८
बाल-अमृत-वचन	.०८
गङ्गालहरी	.०८
सामयिक चेतावनी	.०८
सिनेमा विनाशका साधन	.०८
आनन्दकी लहरें	.०८
गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र	.०८
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश	.०८
ब्रह्मचर्य	.०८
हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	.०८
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	.०८
श्रीभगवन्नाम	.०८
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन	.०८
भगवत्तत्त्व	.०८
संध्योपासनविधि (मन्त्रानुवादसहित)	.०८
रामायण सुन्दरकाण्ड	.०८
श्रीनारायणकवच	.०८
अमोघशिवकवच	.०८
गीतामें विश्वरूप-दर्शन	.०८
शिवमहिम्नःस्तोत्र	.०७
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य	.०७
मनुष्य सर्वप्रिय और सफलजीवन कैसे बने ?	.०७
संत-महिमा	.०७
श्रीरामगीता	.०७
विष्णुसहस्रनाम मूल	.०७
वैराग्य	.०७
शारीरकमीमांसादर्शन	.०७
हरेरामभजन २ माला	.०७
,, १४ माला	.४०
विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद (सार्थ)	.०५
सीतारामभजन	.०५
भगवान् क्या हैं ?	.०४
भगवान्‌की दया	.०४
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग	.०४
सेवाके मन्त्र	.०४
प्रश्नोत्तरी	.०४
सत्यकी शरणसे मुक्ति	.०४
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	.०४
व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति	.०४
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग	.०४
ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन	.०४
परलोक और पुनर्जन्म	.०४
अवतारका सिद्धान्त	.०४
सत्सङ्गकी कुछ सार बातें	.०३
विवाहमें दहेज	.०४
श्रीकार्पण्यपञ्जिकास्तोत्र	.०४
मोहमुद्गर	.०४
रामरक्षास्तोत्र	.०४
सौभाग्याष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्रम्	.०४
संध्या	.०४
बलिवैश्वदेवविधि	.०४
बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति	.०४
गोवध भारतका कलङ्क	.०४
गायका माहात्म्य	.०४
कुछ विदेशी वीर बालक	.०४
सुगम उपासना	.०४
दोहावलीके ४० दोहे	.०४
चतुःश्लोकी भागवत	.०४
पातञ्जलयोगदर्शन मूल	.०३
नारद-भक्ति-सूत्र	.०३
धर्म क्या है ?	.०३
दिव्य सन्देश	.०३
श्रीहरिसंकीर्तन-धुन	.०३
त्यागसे भगवत्प्राप्ति	.०३
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	.०३
प्रेमका सच्चा स्वरूप	.०३
हमारा कर्तव्य	.०३
महात्मा किसे कहते हैं ?	.०३
ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है	.०३
चेतावनी	.०३
कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ	.०३
श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	.०३
शोकनाशके उपाय	.०३
तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें	.०३
जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें	.०३

रजि० सं० एल्० १७५

भगवच्[illegible]	.०३
लोभमें ही पाप है	.०१
गजल गीता	.०१
सहस्रश्लोकी गीता	.०१
संकटनाशनगणेशस्तोत्रम्	.०१
पैकेट नंबर १, कुल पुस्तक १४	१.०१
पैकेट नंबर २, कुल पुस्तक ६	.३५
पैकेट नंबर ३, कुल पुस्तक १७	.६७
पैकेट नंबर ४, कुल पुस्तक १४	.३६
सात बातें	.३०
The Philosophy of Love	1.25
Gems of Truth Part—I	1.00
Gems of Truth Part—II	1.00
Bhagavadgita (With English translation)	.35
(with cloth-bound)	.50
Gopis' Love for Sri Krishna	.35
Way to God-Realization	.35
Divine Name and Its Practice	.25
Wavelets of Bliss	.15
The Immanence of God	.15
What is God ?	.15
The Divine Message	.07
What is Dharma ?	.07
मानस-पीयूष	
,, खण्ड १	९.००
,, ,, २	१२.००
,, ,, ३	१३.००
,, ,, ४	१४.००
,, ,, ५	८.५०
,, ,, ६	१४.००
,, ,, ७	१०.५०
चित्रावली १५×२०	३.५०
,, ११×१४॥	२.५०
,, ७॥×१०	१.६५
कल्याण चित्रावली नं० १	१.३१
,, नं० २	१.३१
,, नं० ३	१.३१
,, नं० ४	१.३१

गीताभवन-स्वर्गाश्रम-सत्सङ्गकी सूचना

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजीकी लोककल्याणकारिणी लगन एवं उनकी मङ्गल-प्रेरणाके फलस्वरूप वर्षोंसे ऋषिकेशकी तपोभूमि गीताभवन-स्वर्गाश्रममें श्रीगङ्गाजीके पुनीत तटपर प्रतिवर्ष सहस्र-सहस्र नर-नारी सत्सङ्गका पवित्र लाभ उठाते थे। विधिके विधानसे इस बार श्रीजयदयालजी हमलोगोंके बीच नहीं हैं और न उनके रिक्त स्थानकी पूर्ति करनेवाले ही उन-जैसे कोई सज्जन उपलब्ध हैं। तथापि यथासाध्य यथाबुद्धि उनका पदानुसरण करना कर्तव्य समझकर इस बार भी सदाकी भाँति ऋषिकेश, गीताभवनमें सत्सङ्गके आयोजनका विचार किया गया है। सबसे प्रार्थना है कि प्रतिवर्षकी भाँति ही सत्सङ्गी महानुभाव तथा माताएँ-बहिनें अधिकाधिक संख्यामें सत्सङ्गके पवित्र उद्देश्यसे ऋषिकेश पधारें। भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारकी चैत्र शुक्ल पक्षमें श्रीरामनवमीके बाद ही वहाँ पहुँचनेकी बात है। उसी समय श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजी महाराज भी पधार सकते हैं। श्रद्धेय स्वामीजी श्रीशरणानन्दजीसे भी प्रार्थना की गयी है तथा अन्यान्य महात्मागण भी पधारनेवाले हैं। सदाकी भाँति ही यह नम्र निवेदन है कि सत्सङ्गमें पधारनेवालोंको ऐश-आराम या केवल जलवायुपरिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जाना चाहिये तथा वहाँ यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधकजीवन बिताते हुए सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाने चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर-रसोइया मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके अथवा अन्य किन्हीं सम्बन्धीके साथ वहाँ जायँ, अकेली न जायँ एवं अकेली जानेकी हालतमें कदाचित् स्थान न मिल सके तो कृपया दुःख न करें। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेकी व्यवस्था कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण स्वाभाविक ही सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, यद्यपि इस बार बड़ी कठिनता है; परंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।